प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष

Dictionary of the Technical Terms of Prātiśākhya

शिवकुमार मिश्र
शैलकुमारी मिश्र
रामनारायण मिश्र
बनमाली बिश्वाल

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
गङ्गानाथझापरिसरः
प्रयागः
2015

प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष

Dictionary of the Technical Terms of Prātiśākhya

शिवकुमार मिश्र
शैलकुमारी मिश्र
रामनारायण मिश्र
बनमाली बिश्वाल

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
गङ्गानाथझापरिसरः
प्रयागः
2015

प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष

संकलन, सम्पादन एवं व्याख्या

शिवकुमार मिश्र
शैलकुमारी मिश्र
रामनारायण मिश्र
बनमाली बिश्वाल

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

प्रयाग

2015

परिसरीय ग्रन्थमाला : 76

पुस्तक : प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष

प्रधान सम्पादक : प्रो. शैलकुमारी मिश्र
प्राचार्य

सम्पादक : शिवकुमार मिश्र
रामनारायण मिश्र
शैलकुमारी मिश्र
बनमाली बिश्वाल

प्रकाशक : राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
गङ्गानाथ झा परिसर,
चन्द्रशेखर आजाद पार्क
इलाहाबाद-211002

संस्करण : प्रथम

प्रकाशन वर्ष : 2015

मूल्य : रु. 400=00 -

मुद्रक : एकेडमी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

Dictionary of the Technical Terms of प्रातिशाख्य-s

Compiled, Edited and Explained

by

Shiv Kumar Mishra
Shail Kumari Mishra
Ram Narayan Mishra
Banamali Biswal

Rashtriya Sanskrit Sansthan
Allahabad
2015

Text Series No. 76

Title of the Book	:	Dictionary of the Technical Terms of प्रातिशाख्यs
General Editor	:	Prof. Shail Kumari Mishra Principal
Edited by	:	Shiv Kumar Mishra Ram Narayan Mishra Shail Kumari Mishra Banamali Biswal
Published by	:	Principal Rashtriya Sanskrit Sansthan Ganganath Jha Campus Chandrashekhar Azad Park Allahabad - 211002
©	:	The Publisher/Editors
First Edition	:	2015
Price	:	Rs. 400=00
Printed at	:	**Academy Press** Daraganj, Allahabad

वर्ण-क्रम

संक्षेप-सूची

अ.प्रा.	–	अथर्ववेद-प्रातिशाख्य
अ.वे.	–	अथर्ववेद
अ.सं.	–	अथर्ववेद-संहिता
उ.भा.	–	उब्बट-भाष्य
ऋ.तं.	–	ऋक्तन्त्र
ऋ.प्रा.	–	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य
ऋ.सं.	–	ऋग्वेद-संहिता
ऐ.आ.	–	ऐतरेय-आरण्यक
च.अ.	–	चतुरध्यायिका (शौनकीया)
त.बो.	–	तत्त्वबोधिनी
तुल.	–	तुलनीय
तै.प्रा.	–	तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य
तै.सं.	–	तैत्तिरीय-संहिता
त्रिभा.र.	–	त्रिभाष्यरत्न
द्र.	–	द्रष्टव्य
नि.	–	निरुक्त
पं.भा.	–	पञ्जिका-भाष्य
प.पा.	–	पदपाठ
परा.	–	परामर्शणीय
पा.शि.	–	पाणिनीय-शिक्षा
पा.सू.	–	पाणिनीय-सूत्र (काशिका)
प्रै.		प्रैष, सेफटेलेविरस के द्वारा सम्पादित

म.भा.	–	महाभाष्य
या.शि.	–	याज्ञवल्क्य–शिक्षा
ल.श.	–	लघुशब्देन्दुशेखर
लो.शि.	–	लोमशी–शिक्षा
व.प्र.शि.	–	वर्ण–प्रदीप–शिक्षा
वा.प.	–	वाक्यपदीय
वा.प्रा.	–	वाजसनेयी–प्रातिशाख्य
वा.सं.	–	वाजसनेयी–संहिता
वि.व.वृ.	–	विष्णुमित्रकृत–वर्गद्वयवृत्ति (ऋग्वेद–प्रातिशाख्य में प्रकाशित)
वै.भा.	–	वैदिकाभरणभाष्य
शु.य.	–	शुक्ल–यजुर्वेद
स.स.शि.	–	सर्व–सम्मत–शिक्षा
सि.कौ.	–	सिद्धान्त–कौमुदी

समाशंसा

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानाङ्गभूतस्य गङ्गानाथ-झा-परिसरस्य ग्रन्थमालाया: 76-तम-प्रसूनत्वेन प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोषाभिधं दुर्लभं महत्त्वपूर्णञ्चेदं ग्रन्थरत्नमद्य समेषां प्राच्यविद्यानुरागिणां समक्षं प्रस्तूय प्रसीदाम:। परिसरस्य भाषानुभागेन प्रवर्तित: प्रो. शिवकुमारमिश्र-डा.रामनारायणमिश्र-प्रो.शैलकुमारीमिश्र-प्रो. बनमालीबिश्वालैश्च संकलित:, व्याख्यात: सम्पादितश्चायं कोशग्रन्थ: दीर्घ-प्रतीक्षानन्तरं लोकलोचनमायातीति महान् प्रमोद:। अत्रोल्लेख्यं वर्तते यत् शोधार्थं सुप्रतिष्ठितेऽस्मिन् गङ्गानाथ-झा-परिसरे न केवलं हस्तलेखाधृता: दुर्लभग्रन्था: किन्तु समये समये मौलिक-साहित्यम् तथा च कोषग्रन्थादय: अपि प्रकाश्यन्ते। इत: पूर्वं प्रो. शिवकुमारमिश्रस्याध्यक्ष्ये परिसरस्य भाषानुभागेन सफलतया पञ्जाबी-संस्कृत-शब्दकोष: निर्मित:, प्रकाशितश्च। अनन्तरमस्मिन् वर्षे ऋग्वेदभाष्यकोषस्य प्रथमो भाग: अपि प्रकाशित:। इदानीं पुन: प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोषस्य प्रकाशनेन परिसरस्य इयं कोष-प्रकाशन-परम्परा अग्रे वर्धते।

व्याकरणाध्ययनप्रयोजननिरूपणप्रसङ्गे महाभाष्ये भगवान् पतञ्जलि: वदति-''न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभि: वेदे मन्त्रा: निगदिता:। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्या:। तान् अवैयाकरण: यथायथं विपरिणमयितुं न शक्नोति। तस्मादध्येयं व्याकरण''मिति। लोके सामान्यत: व्याकरणस्य त्रीणि रूपाणि प्रसिद्ध्यन्ति-छान्दसं, लौकिकं तथा छान्दसलौकिकञ्च। तत्र च छान्दसं प्रातिशाख्यादि-व्याकरणमिति निश्चप्रचम्। पाणिनीयं व्याकरणमुभयं छान्दसलौकिकं वर्तते किन्तु प्रातिशाख्यं छान्दसमात्रं व्याकरणमिति समुदितमस्ति। प्रातिशाख्यं हि वेदानां प्रतिशाखा-सम्बद्धम्। तेन वेदस्य यावन्त: भेदा: तावन्त्येव प्रातिशाख्यानि स्यु:, किन्तु दुर्भाग्यादेव सम्प्रति षडेव प्रातिशाख्यानि उपलभ्यन्ते - 1. शौनक-सङ्गृहीतम् ऋक्प्रातिशाख्यम्, 2. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्, 3. कात्यायन-सङ्कलितं वाजसनेयी -प्रातिशाख्यम्, 4. शाकटायनकृतं ऋक्-तन्त्रम् (सामवेदस्यार्चिकसंहिताधृतं प्रातिशाख्यम्), 5. शौनकीयाचतुरध्यायिकाभिधम् अथर्वप्रातिशाख्यम्, 6. अज्ञात-सङ्गृहीतम् अथर्वप्रातिशाख्यम्, 7. वररुचिसङ्कलितं सामप्रातिशाख्यम् तथा 8. मैत्रायणीयप्रातिशाख्यञ्चेति। शेषाणि आश्वलायन-वाष्कल- शाङ्ख्यायन-चारायण-प्रातिशाख्यानि तु नामत एव श्रुतानि।

मन्त्राणां संहितापाठे सम्भव-विकारेषु विचार एव मूलत: प्रातिशाख्यस्योद्देश्यं, येन पदपाठस्थ-मूलपदानां ज्ञानं सुकरं सम्भवति। अत एव प्रातिशाख्येषु

पदपाठ-क्रमपाठ-सम्बद्धनियमा एव विशेषेण निरूपिताः सन्ति। तत्र च प्रकृति-प्रत्यय-विभागेन पदसाधुत्वानुशासनस्यावश्यकतैव नासीत्। एतदर्थमेव प्रातिशाख्यं नाम कश्चित् पाठानुशासनग्रन्थो न तु शब्दानुशासनपरको ग्रन्थः सङ्कल्पित आचार्यैः।

चरणशब्दः शाखासमूहबोधकः, यथा- वाजसनेयचरणः। शाखाशब्दश्च आचार्यानुयायिभेदबोधकः, यथा- वाजसनेय-चरणस्य माध्यन्दिन-कण्व- गालवादयः। शाखां प्रति गता शाखा प्रतिशाखा, अनुशाखा अवान्तरशाखा चेति। प्रातिशाख्यं हि पार्षद-शब्देनापि परिचीयते। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि इति यास्कः (निरु. 1.17) अभिप्रैति । महाभाष्यकारः (म.भा.पा. 6.3.14) अपि एतन्निमित्तं पारिषत्-शब्दं प्रयुनक्ति ।

प्रातिशाख्यं संहितायाः सम्भव-विपर्ययाणामध्ययनं करोति। तत्र पुनः वर्णोच्चारणादीनां सूक्ष्मं विवेचनमपि कृतमस्ति। वर्णोच्चारणे सम्भव-दोषाणां सूक्ष्मविवेचनमपि प्रातिशाख्यस्य विषयेष्वन्यतमम्। वस्तुतः प्रातिशाख्य-प्रतिपाद्य-विषय-विषये तथा प्रस्तुतकोषस्य स्वरूपविषये च अस्माभिः भूमिकायां साङ्गोपाङ्गं विवेचितमस्ति। तस्य पुनः पिष्टपेषणस्यावश्यकता नैव प्रतीयते। किन्त्वत्र प्रस्तुत-शब्दकोषस्य निर्माणविधिविषये संक्षिप्य किमपि वक्तव्यम्। अत्र आहत्य अन्यूनाः 600 सूचकशब्दाः (Catch words) प्रविष्टयो वा संकलिताः वर्तन्ते। अत्रोपर्युक्तेभ्यः प्रमुखेभ्यः पञ्चप्रातिशाख्येभ्यः त्रिचतुर्थांश-सूत्राणि सन्दर्भ-रूपेणोद्धृतानि। एवमेवास्मिन् प्रसङ्गे प्रायः सर्वाभ्यः संहिताभ्यः उदाहरणानि प्रयुक्तानि। तत्र च पुनः पारिभाषिक-शब्द-सम्बद्धानि अवशिष्टानि कानिचन विशेष-तथ्यानि विशेष-शीर्षकान्तर्गतानि व्याख्यातानि। अन्यग्रन्थेभ्यः (शिक्षा-निरुक्त-अष्टाध्यायीभ्यः) सम्बद्ध-विषयाः तुलनीय (तुल.) - परामर्शणीय (परा.) सदृशैः शीर्षक-बिन्दुभिः दर्शिताः।

आशासे, विश्वसिमि च कोशग्रन्थोऽयं संस्कृतजगति विदुषां तोषाय कल्पिष्यते। अत एव एतत्प्रयासाय परियोजनासम्बद्धान् सर्वान् विदुषः अभिनन्द्य विरमामि।

10.07.2015 (इलाहाबाद)

शैलकुमारी मिश्र
प्राचार्या

जो लिखा न जा सका

कहते हैं, नाम में क्या रखा है? पर नाम से ही तो पहचान होती है। यदि नाम डूबा, तो बचा क्या? जैसे छाया व्यक्ति के व्यक्तित्व का अपरिहार्य हिस्सा होती है, वैसे ही ग्रन्थ के नाम से उसकी विषय-वस्तु, झटिति मानस-पटल पर उभर आती है। यथा रामायण, मेघदूत या फिर उत्तररामचरित। व्यक्ति या वस्तु के मिट जाने पर भी नाम युग-युगों तक जीवित रहता है।

प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष : प्रस्तुत कोष का यह नाम अर्थ-विश्लेषण की अपेक्षा नहीं रखता, विशेषतया प्रबुद्ध जनों के लिए। परम्परा कहती है कि पुरा काल में सहस्राधिक प्रातिशाख्य थे, अब वे अंगुलिगण्य शेष रह गये हैं। प्रातिशाख्य का सीधा अर्थ है वैदिक भाषा का प्रायोगिक व्याकरण। आज वह भाषा ही शनैः-शनैः नेपथ्य में जा रही है तो फिर उसके व्याकरण की क्या आवश्यकता, तिस पर प्रायोगिक व्याकरण की? आज पुनर्मुद्रण के अभाव में कितने अध्येताओं के पास प्रातिशाख्य हैं? विचार-मन्थन के पश्चात् यह बात उभर कर आई कि उपलब्ध प्रातिशाख्यों के पारिभाषिक शब्दों के बहाने उनके सूत्रों और उनसे सम्बद्ध संहिताओं के वाक्यों या वाक्यांशों को विद्वद्वृन्द के समक्ष क्यों न रखा जाए? इस लघुग्रन्थ में उपलब्ध प्रातिशाख्यों के लगभग दो-तिहाई सूत्र ढेर सारी सामग्री के साथ विन्यस्त हैं।

माधवीय धातुवृत्ति में प्रातिशाख्य-शब्द की व्युत्पत्ति यह दी गई - *शाखायां शाखायां प्रतिशाखं, प्रतिशाखं भवम् इति प्रातिशाख्यम्* (श्री आर. शाम शास्त्री एवं श्री के. रंगाचार्य शास्त्री द्वारा सम्पादित तै.प्रा. की भूमिका, पृ.1)। तदनुसार तो स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय के प्रातिशाख्य-काल

में वेदों की जितनी शाखाएँ रही होंगी, उतने ही प्रातिशाख्य भी होने चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 101, सामवेद की 1000 और अथर्ववेद की 09, इस प्रकार कुल 1131 शाखाएँ थीं। तदनुसार तो प्रातिशाख्यों की संख्या 1131 होनी चाहिए, जो आज उपलब्ध नहीं है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि इनमें से अनेक प्रातिशाख्य कालान्तर में किन्हीं कारणों से विलुप्त होते गये। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि प्रातिशाख्य-विशेष तद्वेद की अन्य शाखाओं से भी सम्बद्ध हैं, यथा ऋग्वेद-प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल और बाष्कल शाखा से *(द्वि-त्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतयोपपत्तेः तथा बह्वृचाणां शाकल-बाष्कलात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्)*। वा.प्रा.1.1. की टीका में भाष्यकार अनन्तभट्ट ने कहा है कि काण्वादि 15 शाखाओं का एक ही प्रातिशाख्य है (तस्मात् सिद्धं काण्वादिपञ्चदशशाखासु एकमेव प्रातिशाख्यमिति)। अनन्तभट्ट का ही कथन है कि तै.प्रा. में जो उदाहरण उद्धृत हैं, वे तै.सं. में नहीं मिलते। अवश्य ही वे उन शाखाओं के हैं जो आज अनुपलब्ध हैं (व्हिटनी, तै. प्रा., पृ. 184-185)।

पतञ्जलि ने जिन 1131 शाखाओं का उल्लेख किया है, उनका संकेत अवश्य ही उत्तरकालीन ऐतरेय आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों, अग्निपुराणादि कतिपय पुराणों एवं शिक्षा-ग्रन्थों, अनुक्रमणिकाओं अथवा सूत्र-ग्रन्थों, जहाँ ध्वनि-शास्त्र-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री की चर्चा की गई है, मिलने चाहिए। किन्तु समूह-रूप से 1131 प्रातिशाख्यों की चर्चा कहीं भी प्राप्त नहीं होती। हाँ, संगठित रूप से कतिपय प्रातिशाख्यों की चर्चा अवश्य है। इस विवदमान प्रसंग में विचक्षक विद्वानों का बहुमत है कि प्रातिशाख्य ध्वनि-शास्त्र के वे प्रायोगिक ग्रन्थ थे जिनका सम्बन्ध वेद-विशेष के किसी शाखा-समूह अथवा चरण-विशेष से था। चरण-पद शाखा-समूह-वाचक है और चरण का ही अन्तर्विभाग शाखा है। आचार्य यास्क (निरुक्त) का कहना है 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानि पार्षदानि।' अर्थात् पदों को ही मूल मानकर सभी चरणों के प्रातिशाख्य-ग्रन्थ अपना

विधान करते हैं। विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति में ऋ.प्रा. के लिए पार्षद-शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

प्राक्तन काल में ऐसी परिषदें (गोष्ठियाँ या सभाएँ) गठित की जाती थीं जिनमें वेद-विशेष के अन्य विषयों के साथ ध्वनि-शास्त्र पर विद्वानों द्वारा नियमित चर्चा की जाती थी। ऐसी परिषदों से सम्बन्धित होने के कारण प्रातिशाख्यों को 'पार्षद' कहा गया। नि.1.17 पर दुर्गाचार्य ने 'पार्षद' को ही प्रातिशाख्य कहा है। इससे सुस्पष्ट है कि पार्षद और प्रातिशाख्य पर्यायवाची हैं। भट्ट कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक 5.1.3 में प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरण-विशेष से बतलाया है *(धर्मशास्त्राणां गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते)*। आधुनिक वैयाकरण युधिष्ठिर मीमांसक भी प्रातिशाख्य को तद्वेद के चरण से ही सम्बद्ध मानते हैं। उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि वेदों की प्रतिशाखा प्रातिशाख्य की धारणा संगत प्रतीत नहीं होती।

प्रस्तुत कोष-ग्रन्थ के पाँच आधार-प्रातिशाख्य हैं जो कालक्रमानुसार अधोलिखित हैं -

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (कृष्णयजुर्वेद का), वाजसनेयिप्रातिशाख्य (शुक्लयजुर्वेद का), ऋक्तन्त्र (सामवेद की आर्चिक संहिता का) तथा अथर्ववेद की शौनकीया चतुरध्यायिका। इनके साथ तुलना की दृष्टि से पाणिनीय सूत्रों एवं पाणिनीय शिक्षा को भी प्रमुखता दी गई है। वह इसलिए कि सभी प्रातिशाख्यकार आचार्य पाणिनि के ठीक पूर्ववर्ती हैं। पाणिनीय सूत्रों से संस्कृत-विद्वान् अति सुपरिचित एवं ज्ञात हैं। तुलना में पा.सू. को दर्शाने से प्रातिशाख्य के सूत्र झटिति पकड़ में आ जाते हैं।

प्रातिशाख्यों का प्रयोजन : वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में मनागपि परिवर्तन या त्रुटि न हो, इस प्रतिबद्ध दृष्टि से अर्थात् मन्त्र-पाठ की सम्यक् सुरक्षा के लिए उत्तर-कालीन वैदिक काल में वेदों के प्रति

चरणान्तर्गत शाखाओं के मान्य आचार्यों ने प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की रचना की। इनमें अधोलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

पदों में अवग्रह के नियम, प्रगृह्य और अप्रगृह्य पर विचार, क्रम-पाठों पर विवेचन, पदपाठ से संहिता-पाठ के निष्पादन के नियम, लोप-आगम-वर्णविकार पर विमर्श, स्वर-संस्कार अर्थात् उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-प्रचय पर विचार, ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में सम्यक्तया और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वल्पतया छन्दोविचार आदि।

छन्दोविचार : वैदिक वाङ्मय में छन्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में सूर्य-रश्मि के अर्थ में प्रयोग मिलता है। कौषीतकी ब्राह्मण में छन्दों को प्राण कहा गया है- *प्राणा वै छन्दाँसि* (7/9, 11/8, 17/21)। वस्तुतः छन्दों का महत्त्व बहुत व्यापक है। किन्तु मुख्यतया छन्द के दो अर्थ प्रयुक्त होते हैं- आच्छादन और आह्लादन। वे दोनों अर्थ एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं- 'छदि संवरणे' और 'छदि आह्लादने'। वैदिक छन्दों के अर्थ में संवरण, आवरण तथा आच्छादन अर्थ प्रयुक्त होता है। सायण के अनुसार - अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः। वहीं शतपथ-ब्राह्मण (8.5.211) में 'यदस्मा अच्छदयंस्मात्त्छन्दांसि'। अर्थात् जिससे आच्छादन किया जाए, वे छन्द हैं। छान्दोग्योपनिषद् भी इसी अर्थ का समर्थन करता है। छन्दों का वेदों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण आगे चलकर छन्द वेद के अर्थ में रूढ़ हो गया और इसी प्रकार लोकव्यवहार में छन्द 'पद्य' के अर्थ में रूढ़ हो गया। वेद में छन्द का महत्त्व इसलिए भी अधिक है, क्योंकि षड् वेदाङ्गों में छन्द अन्यतम है- *'छन्दः पादौ तु वेदस्य'* (पा.शि. 41)। छन्दों के बिना वेदों की गतिशीलता अवरूद्ध हो जाती है, इस कारण भी छन्दों का महत्त्व बढ़ जाता है। कात्यायन ने तो सुस्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा कर दी है : *यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुरयं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति।* (का. अ.1.1)। इसी प्रकार ऋ.प्रा.18.62 पर भाष्य में उब्बट ने एक सुन्दर श्लोक लिखकर छन्दों के ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित कर दी है-

स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वृद्धिकरं शुभम्।
कीर्तिमृग्यं यशस्यञ्च छन्दसां ज्ञानमुच्यते।।

और भी। छन्दों के ज्ञान के बिना मन्त्रों का सम्यक् पाठ सम्भव नहीं। सम्यक् पाठ नहीं जानने वालों को जपादि में अधिकार नहीं है। क्योंकि अज्ञान से नाना प्रकार के उपद्रव संभावित हैं। यथा,'इन्द्रशत्रु वर्द्धस्व' इसका सुविदित उदाहरण है। *'जपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक् पाठमजानता'*- सुप्रसिद्ध उक्ति है। वेदों का छन्दों पर आश्रित होने के कारण छन्दों का उद्भवकाल भी अति प्राचीन है। शांखायन-श्रौतसूत्र में सर्वप्रथम छन्दःशास्त्रीय चर्चा मिलती है, जिसमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ्, जगती इन सात छन्दों का उल्लेख मिलता है। तदनन्तर पतञ्जलि के 'निदान'-सूत्र, आचार्य शौनक के 'ऋक्-प्रातिशाख्य' तथा कात्यायन की 'ऋक्-सर्वानुक्रमणी' में छन्दों पर पर्याप्त विचार प्राप्त होता है।

ऋक्-प्रातिशाख्य में षोडश पटल से अष्टादश पटल तक छन्दों पर विचार प्राप्त होता है, जिसमें 1 अक्षर के छन्द 'मा' से लेकर 26 अक्षर के छन्द 'उत्कृति' तक के छन्दों की चर्चा इनके समस्त भेद-उपभेद, वर्गीकरण, देवता, वर्ण, यतिनिर्धारण के साथ पादव्यवस्था का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। वैदिक छन्दों की मुख्यतः दो विशेषताएं हैं। **एक,** आकलनीय यह है कि अक्षरों की संख्या ही छन्दों का नियामक है, फिर भी अक्षरों की संख्या नियत न होकर परिवर्तनशील है। यथा, सुविदित मन्त्र गायत्री में। **दो,** यहाँ पादों की संख्या भी नियत नहीं है।

उपलब्ध प्रातिशाख्यों में मात्र ऋक्-प्रातिशाख्य में ही छन्दों की चर्चा प्राप्त होती है। प्रस्तुत प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष में ऋक्प्रातिशाख्य में प्राप्त छन्दों के समस्त पारिभाषिक पदों को उनके लक्षण, उदाहरण एवं अर्थ के साथ संकलित किया गया है।

यदि आज की वैज्ञानिक भाषा में कहा जाए तो कहा जा सकता

है कि प्रातिशाख्यों में तद्वेद की शाखा-विशेष से सम्बन्धित प्रायोगिक व्याकरण के नियमों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। वेदों के संहिता-भाग प्रातिशाख्य-काल से लेकर अद्यावधि अपरिवर्तित हैं, तो इसका श्रेय प्रातिशाख्यों को ही जाता है।

वेदों के अध्येताओं को, जो विज्ञेय है, तत्सम्बद्ध तै. प्रा. में एक सुन्दर श्लोक (सूत्ररूप में) आया है, जिसमें प्रातिशाख्य की विषय-वस्तु प्रतिपादित हैं -

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः।।
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता।।

(अध्याय-24, सूत्र - 5)

प्रातिशाख्यों का काल : पौरस्त्य और पाश्चात्य (मैक्समूलर, वेबर, राथ आदि) आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने इस पर प्रचुर विमर्श किया है। यहाँ विमर्श का अवकाश नहीं है। अधिसंख्य भाषाविदों द्वारा जो सम्मत है, तदनुसार यह कि प्रातिशाख्यों का समय निरुक्तकार यास्क (सप्तम शती ई.पू.) के पश्चात् और सूत्रकार आचार्य पाणिनि (पञ्चम शती ई. पू.) के पूर्व स्वीकार किया गया है। डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री का अभिमत है कि ऋक्तन्त्र के अधिसंख्य सूत्र तो पाणिनि के पूर्व के हैं किन्तु कतिपय सूत्रों पर पाणिनि का प्रभाव दीखता है। डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित अथर्ववेद-प्रातिशाख्य पाणिनि के पश्चात्काल का है।

1.ऋक्-प्रातिशाख्य : यह प्रातिशाख्य शौनक-प्रोक्त माना जाता है। यास्क शौनक का स्मरण करते हैं। शौनक भी यास्क का स्मरण करते हैं। यास्क का निरुक्तकारत्व होने का प्रमाण महाभारत (12.342. 73) में भी समुल्लिखित है। इस से ऋचाओं का काल महाभारत से पूर्ववर्ती तो अवश्य है। वहाँ भी लिट्-प्रयोग से कितना पूर्ववर्ती यह निश्चित नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक इसे विक्रम-पूर्व तृतीय-सहस्र वर्ष मानते हैं।

ऋचाओं में प्राप्त सन्धि, नति, प्लुति, उदात्तादि स्वरधर्म, छन्द आदि अनेक विषयों की विवेचना ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में मिलती है। अतः ऋग्वेदप्रातिशाख्य को 'वर्णनात्मक-व्याकरण' के रूप में देखा जा सकता है। व्याकरण के साथ-साथ शिक्षा, छन्द आदि वेदांगों के विषयों का भी विवेचन यहाँ किया गया है ।

इस प्रातिशाख्य में 18 पटल हैं जिसमें त्रयोदश एवं चतुर्दश पटल शिक्षाविषय का है तथा षोडश, सप्तदश एवं अष्टादश पटलों में वैदिक छन्द वर्णित हैं। इसके ऊपर विष्णुमित्र की ऋज्वर्था वृत्तिः, उब्बट का भाष्य प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त वृत्तियाँ एवं भाष्य भी इस प्रतिशाख्य के अपने हैं, ऐसा सुना गया है।

ऋग्वेद आश्वलायन-शाखासम्बद्ध है और आश्वलायन ने इसकी रचना की, यह बात अनन्तभट्ट कृत वाजसनेयी प्रातिशाख्य-टीका से ज्ञात होती है। पर युधिष्ठिर मीमांसक इससे सहमत नहीं हैं। वे लिखते हैं-*"नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृत-प्रातिशाख्यसिद्धत्वम्।* इस प्रकार वाष्कल-शाखा से सम्बद्ध प्रातिशाख्य भी था - यह तथ्य शाङ्ख्यायन-श्रौतसूत्र के अनितीयभाष्य के *"उपद्रुतो नाम सन्धिः वाष्कलादीनां प्रसिद्धः।'* -इस वचन से ज्ञात होता है, जैसा कि युधिष्ठिर मीमांसक ने निर्देश किया है। इसी प्रकार *'किन्तु वाष्कलानामप्रगृह्यवचनम्'* यह वचन भी वाष्कल-शाखा की उपलब्धता में प्रमाण है।

2. तैत्तिरौयप्रातिशाख्य : तैत्तिरीयशाखा से सम्बद्ध यह प्रातिशाख्य अज्ञातकर्तृक माना जाता है। इस प्रातिशाख्य का प्रणयन पाणिनि-पूर्व माना जाता है। इस पर सोमयार्य का त्रिभाष्यरत्न प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त माहिषेय-भाष्य, गोपालयज्वा के 'वैदिकाभरण' भी प्रसिद्ध हैं।

3. वाजसनेयीय प्रातिशाख्य : यह प्रातिशाख्य महर्षि कात्यायन-प्रणीत है। कात्यायन याज्ञवल्क्य के पुत्र रहे हैं, ऐसा युधिष्ठिर मीमांसक का मत है। प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त उनके संहिता-ब्राह्मण, कात्यायन-परिशिष्ट, प्रतिज्ञा-सूत्र, गृह्य-सूत्र आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कात्यायन

का स्थितिकाल भी अनिर्णीत है। किन्तु वे विक्रमपूर्व सहस्राब्द के पूर्ववर्ती थे, ऐसा प्रबल तर्क मिलता है। युधिष्ठिर मीमांसक भी उन्हें विक्रमपूर्व 2900 वर्ष के मानते हैं। इस प्रातिशाख्य के उब्बटाचार्य-भाष्य और अनन्तभट्ट-व्याख्या प्रसिद्ध हैं।

4. **ऋक्तन्त्र**- यह सामवेद की आर्चिक संहिता से सम्बद्ध एकमात्र प्रातिशाख्य है जो कौथुमीय शाखा का है। यह शाकटायनकृत है किन्तु व्याकरण-ग्रन्थ नहीं है। इस पर दो अध्ययन (studies) प्राप्त हैं- प्रथम, एस.सी. बर्नेल द्वारा और द्वितीय डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा। शास्त्री जी द्वारा सम्पादित ऋक्तन्त्र सर्वतः परिपूर्ण है।

ऋक्तन्त्र पाँच प्रपाठकों में और प्रत्येक प्रपाठक दशकों में विभक्त है। शास्त्रीजी ने पाठकों और सन्दर्भों की सुविधा के लिए प्रपाठकों और दशकों को यथावत् रखते हुए सूत्रों को क्रमबद्ध करके 01 से 287 में दर्शाया है। शास्त्रीजी ने प्रत्येक सूत्र की विशद विवेचना तो की ही है, साथ-साथ अन्यान्य प्रातिशाख्यों, अष्टाध्यायी के सूत्रों से तुलना करते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन, पौरस्त्य एवं पाश्चात्य ध्वनि-शास्त्रियों के मत-मतान्तरों को भी उपन्यस्त किया है।

5. **शौनकीया चतुरध्यायिका** : यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बद्ध है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। प्रसिद्ध विद्वान् ह्विटनी ने इस प्रातिशाख्य का सानुवाद व सव्याख्या सम्पादन किया है।

6. **सामप्रातिशाख्य**- सामवेद से सम्बद्ध यह प्रातिशाख्य पुष्पसूत्रनाम से प्रसिद्ध है। यह प्रातिशाख्य वररुचिप्रोक्त माना जाता है। वे कात्यायन के पौत्र थे- ऐसा युधिष्ठिर मीमांसक ने बताया है। इसके ऊपर अजातशत्रु का पुष्पसूत्रभाष्य भी प्रसिद्ध है। यह प्रातिशाख्य सामवेद की गान-संहिता से सम्बद्ध है

7. **अथर्वप्रातिशाख्य**- अज्ञातकर्तृक यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद-सम्बद्ध है। यह प्रातिशाख्य प्राक्पाणिनीय है, ऐसा अनुमान किया जाता है। विस्तार की दृष्टि से यह सबसे छोटा प्रातिशाख्य है। यह तीन प्रपाठकों में विभक्त है। यह पंजाब वि.वि. की ग्रन्थमाला से पं. त्रिविक्रम

शास्त्री द्वारा सम्पादित है। डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री के मतानुसार यह प्रातिशाख्य पाणिनि के पश्चात् है।

एतदतिरिक्त कुछ अन्य प्रातिशाख्य भी हैं जिनके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य भी वैदिक-व्याकरण हैं जिन्हें शौनक-प्रणीत माना गया-अथर्वचतुरध्यायी, कात्यायनकृत-प्रतिज्ञासूत्र, उन्हींके ही भाषिक-सूत्र, गार्ग्य का सामतन्त्र, आपिशलि के अक्षरतन्त्र आदि वैदिक-व्याकरण-शास्त्र प्रसिद्ध हैं। साथ ही अथर्वचतुरध्यायी कौत्सव्याकरण के नाम से प्रसिद्ध है।

यास्क का निरुक्त भी इस प्रसंग में नितान्त ही स्मरणीय है। प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में स्मृत उनसठ आचार्यों की सूची युधिष्ठिर मीमांसक ने सप्रमाण प्रस्तुत किया है, जिनमें से कुछ आचार्य पाणिनि द्वारा भी स्मृत हैं। पर वे सर्वथा विस्मृत एवं उपेक्षित हैं। पाणिनि द्वारा अनुल्लिखित किन्तु तत्पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं- महेश्वर, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, वैयाघ्रपाद्य, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गौतम तथा व्याडि प्रभृति। पाणिनि के अष्टाध्यायी में स्मृत दश आचार्यों के नाम अधोलिखित हैं -आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक एवं स्फोटायन आदि। इसी प्रकार पाणिनि के उत्तरवर्ती आचार्यों में कातन्त्र-व्याकरणकार (सम्भवतः शर्ववर्मा ही है), चान्द्रव्याकरणकार चन्द्रगोमी, क्षपणक, जैनेन्द्र-व्याकरणकार देवनन्दी, वामन, पाल्यकीर्ती, भोजदेव, शिवस्वामी, बुद्धिसागर, भद्रेश्वरसूरी, वर्धमान, महेन्द्र, मलयगिरि, क्रमदीश्वर, अनुभूति-स्वरूपाचार्य, बोपदेव तथा पद्मनाभ आदि प्रसिद्ध हैं।

पारिभाषिक-शब्द का निर्वचन : चूँकि यह पारिभाषिक शब्दकोष है, अतः पारिभाषिक-शब्द का निर्वचन महत्त्वपूर्ण है। *'परिभाषायां भवम् पारिभाषिकम् (परिभाषा - ठक्)'।* अर्थात् पारिभाषिक शब्द वे होते हैं, जो अपने में कुछ व्यापकता एवं विशेषता लिये हुए होते हैं। निश्चप्रचं वे व्यावहारिक अर्थ से कुछ भिन्न ही अर्थ देते हैं।

हर शास्त्र के अलग-अलग पारिभाषिक शब्द होते हैं। या फिर एक पारिभाषिक शब्द अलग-अलग शास्त्र में अलग-अलग पारिभाषिक अर्थ व्यक्त करता है। जैसे, गुण-शब्द व्याकरण में अ, ए, ओ (अदेङ् गुण:) होता है तो दर्शन में सत्त्व, रज और तम। इसी प्रकार साहित्य में गुण ओज:, प्रसाद, माधुर्य आदि को बताता है। विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए पारिभाषिक शब्द का विधान ग्रन्थ में केवल एक बार कर दिया जाता है और ग्रन्थ में जहाँ-जहाँ उस अर्थ का ज्ञापन करना हो, उस लघु पारिभाषिक शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। यथा स्वर, अभिनिधान आदि।

परिभाषा : अष्टाध्यायी में पाणिनि ने शास्त्रीय परम्परा में छह प्रकार के सूत्रों का प्रयोग किया - संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश एवं अधिकार-सूत्र।

व्याकरण-सूत्रों के अवबोधनार्थ परिभाषाओं की आवश्यकता होती है। इन परिभाषा-सूत्रों के बिना व्याकरणसूत्रों का अवबोधन क्लेशकर है।

व्याकरण-परम्परा में परिभाषा के अनेक लक्षण उपलब्ध हैं - 'परितो सर्वतो भाष्यन्ते नियमा: याभिस्ता: परिभाषा:।' परित: -अर्थात् वैदिक, लौकिक, एवं शास्त्रीय-व्यवहार जिससे सम्पादित हो, उसे परिभाषा कहते हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि ने परिभाषा का एक सुन्दर लक्षण प्रस्तुत किया है -'परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वालयति प्रदीपवत्। यथा प्रदीप: सुप्रज्वलित: सर्वं वेश्माभिज्वालयति' (महाभाष्य, पा.सू.2.1.1)।

परिभाषा-भेद : परिभाषा सामान्यत: तीन प्रकार की हैं - वाचनिकी, ज्ञापकसिद्धा तथा न्यायसिद्धा।

- जो परिभाषाएं साक्षात् व्याकरण-सूत्रकर्ताओं के द्वारा प्रोक्त हैं, वे वाचनिकी परिभाषा कहलाती हैं। यथा *आद्यन्तौ टकितौ (पा.सू.1.1.4) विप्रतिषेधे परं कार्यम्* (पा.सू.1.4.2) इत्यादि।
- जो परिभाषा किसी सूत्र या सूत्रांश से ज्ञापित होते हैं, वे ज्ञापकसिद्ध परिभाषा के नाम से जानी जाती हैं। यथा : *णलो लित्यकरणात् लस्य नेत्वम्। संज्ञापूर्वकं विधेरनित्यत्वम्* इत्यादि।

– जो परिभाषा लौकिक न्यायों पर प्रतिष्ठित हैं, वे न्यायसिद्ध परिभाषा हैं। यथा : *एकदेशविकृतमनन्यवत्।*

'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' यह जो परिभाषा के प्रसंग में कहा गया है, वह उचित ही है। ज्ञापक अर्थात् बोधक नहीं, किन्तु निमित्त के सूचक है। कुछ पारिभाषिक शब्द तो सभी प्रातिशाख्यों में मिलते हैं, कुछ केवल एक या एकाधिक प्रातिशाख्यों में। कुछ प्रातिशाख्यों में पारिभाषिक शब्द के लक्षण और प्रयोग दोनों मिलते हैं और कुछ में कुछ के केवल प्रयोग। एक अर्थ का ज्ञापन कराने वाले पारिभाषिक शब्दों को भिन्न-भिन्न प्रातिशाख्यों में भिन्न-भिन्न नामों से कहा गया है। कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे भी हैं जिनके अर्थ भिन्न-भिन्न भी हैं। कुछ पारिभाषिक शब्द अन्वर्थ संज्ञा वाले हैं, कुछ यादृच्छिक।

इस प्रकार परिभाषाएं पाणिनीय नहीं हैं। वे विविध आचार्यों के द्वारा पहले से सङ्कल्पित हैं। जैसे : *वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्, प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणम्, संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे न तदन्त-ग्रहणम्।*

शाब्दबोध में कोष की भूमिका : जब कोष, शब्दकोष की बात चले तो यह उक्ति कितनी सटीक बैठती हे : *'अवैयाकरण-स्त्वन्धः बधिरो कोषवर्जितः।'* शब्दों का अर्थबोध या शक्तिग्रह ही शाब्दबोध कहलाता है। शक्तिग्रह अनेक प्रकार से होते हैं। जैसे, व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष एवं विवृति आदि। शास्त्र में कहा ही गया है –

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोषाप्तवाक्य-व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।

अर्थात् कोष भी शाब्दबोध में कारण होते हैं। पतञ्जलि उद्घोषित करते हैं- *एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः, सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।* अब जिज्ञासा होती है कि संस्कृत में कोषरचना की क्या परम्परा रही है।

संस्कृत-वाङ्मय में शब्दकोष-परम्परा : संस्कृत-वाङ्मय में शब्दकोष-रचना-परम्परा अति प्राचीन है। इस परम्परा का श्रीगणेश लौकिक कोष-रूप में प्रसिद्ध अमरसिंहकृत 'अमरकोष' से ही हुआ है। अमरकोष की रचना चतुर्दश शताब्दी में हुई है, ऐसा माना जाता है। अमरकोष को 'नामलिङ्गानुशासनम्' भी कहा जाता है।

पर इस से पूर्व प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय में अनेक कोष मिलते हैं। जैसे 'निघण्टु' नामक वैदिक कोष। इस कोष का स्थान कोषरचना-परम्परा में प्राचीनतम हो सकता है जिस पर यास्क ने व्याख्या-रूप में 'निरुक्त' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य वैदिक-शब्दों का संग्रह और उनका निर्वचन है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में द्वादश निरुक्तकारों के नाम गिनाये हैं। वे हैं - औदुम्बरायण, और्णनाभ, औपमन्यव, तेटीकी, वार्ष्यायणी, गालव, गार्ग्य, क्रौष्टुकी, आग्रहायण, स्थौलीष्ठीवि, शाकपूर्णी तथा कात्थक्य आदि। कुछ लोगों का मानना है कि चौदह निरुक्तकार थे। पर इस समय केवल यास्क-विरचित 'निरुक्त' ही उपलब्ध हैं।

संस्कृत-कोषपरम्परा में अनेक प्राचीन कोषों की रचना हुई। उनमें से कुछ समानार्थी कोष, कुछ अनेकार्थी कोष भी हैं। उपलब्ध कुछ प्राचीन कोषों एवं कोषकारों के नाम इस प्रकार हैं - भागुरि, पलूर, शेषकर, नारद, पालक्य, भरत, वररुचिकोष, विक्रमादित्यकोष, शब्दार्णव, उत्पलिनी, उत्पलमालदीपिका, प्रताप, रसभ, विष्णु और वाचस्पति आदि। इन प्राचीनकोष एवं कोषकारों का नामोल्लेख परवर्ती कोषों में भी मिलते हैं। अमरकोष के बाद भी कोष-रचना-परम्परा में कई कोषों की रचना हुई, जिन में एक शब्द के समानार्थक शब्दों का परिगणन अथवा एक शब्द के नाना अर्थों का निर्देश किया गया है। ऐसे कोष 'समानार्थी कोष' कहे जाते हैं। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि समानार्थक कोष-रचना-परम्परा ईस्वीय अष्टम शताब्दी से आरम्भ हो जाती है। धनञ्जय-विरचित 'नाममाला' समानार्थक कोषपरम्परा में प्रथम है। अन्य प्रमुख कोष इस प्रकार हैं - अमरकीर्तिविरचित 'नाममालाभाष्य',

हलायुधभट्ट के 'हलायुधकोष' (अथवा 'अभिधानरत्नमाला'), भोज की 'नाममालिका', यादवप्रकाश के 'वैजयन्तीकोष', हेमचन्द्र के 'अभिधान-चिन्तामणि' 'नामशेषमाला', जिनदेवमुनीश्वर के 'शिलोच्छ', पुरुषोत्तमदेव की 'हारावली', वामनभट्ट बाण का 'शब्दरत्नाकर', हर्षकीर्तिविरचित 'कोषकल्पतरु', मथुरेश विद्यालङ्कार की 'शब्दरत्नावली', केशव का 'कल्पद्रुमकोष' इत्यादि।

अनेकार्थक-कोष या नानार्थक-कोषों की रचना ईस्वीय षष्ठ शताब्दी से आरम्भ हुई। इस प्रकार के कोषों में एक ही शब्द के नाना अर्थ दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए -

कौशिको देवराजः स्यात् उलूकश्चापि कौशिकः।
द्विजो विप्रश्च दन्तश्च द्विजः पक्षी निगद्यते।।

यहां 'कौशिक' शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं - देवराज तथा उलूक। इसी प्रकार 'द्विज' शब्द का विप्र, पक्षी एवं दन्त आदि अर्थ प्रसिद्ध हैं। उपलब्ध कुछ प्रमुख नानार्थक कोषों के नाम इस प्रकार हैं - महाक्षपणक का 'अनेकार्थध्वनिमञ्जरी', महेश्वर का 'विश्वप्रकाश', अजयपाल का 'नानार्थसंग्रह', धरणिदास का 'धरणिकोष', हेमचन्द्र का 'अनेकार्थसंग्रह', मङ्खकृत 'मङ्खकोष', मेदिनीकर-विरचित 'मेदिनीकोष', केशवस्वामि- विरचित 'नानार्थार्णव-संक्षेप', महीप का 'नानारत्नतिलक' इरुगपदण्डाधिनाथ की 'नानार्थरत्नामाला', श्रीधरसेन का 'विश्वलोचनकोष', राघव की 'नानार्थमञ्जरी' तथा राघवजापाखण्डेकर का 'कोषावतंस' आदि।

तत्पश्चात् एकाक्षर-द्व्यक्षर-त्र्यक्षरादि कोषों की रचना प्रारम्भ हुई। इस विधा के कुछ प्रमुख कोष इस प्रकार हैं - अमरकवीन्द्र की 'एकाक्षरनाममाला', पुरुषोत्तमदेव का 'एकाक्षरकोष', दण्डाधिनाथकृत 'एकाक्षर- द्व्यक्षर-त्र्यक्षरादिरत्नमाला', सौभरिकृत 'एकाक्षरनाममाला' और 'द्व्यक्षरनाममाला', पुरुषोत्तमदेव का 'शब्दभेदप्रकाश', रधुनाथ का 'राजव्यवहारकोष' आदि।

इन कोषों के मुख्य उद्देश्य हैं - संस्कृत-शब्दों के सन्दर्भ में सभी तथ्यों का प्रस्तुतीकरण। यथा शब्दविशेष का सर्वप्रथम प्रयोगस्त्रोत, विभिन्न अर्थों के सामान्यविशेष सन्दर्भ में निर्देश, व्युत्पत्ति, निरुक्ति, प्रचलित अप्रचलित रूप में उस की स्थिति, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, अर्थ-परिवर्तन आदि, आदि।

पारिभाषिक शब्दकोष : व्यावहारिक शब्दों का अर्थबोध सामान्य शब्दकोष से होता है, पर पारिभाषिक शब्दों का अर्थबोध किसी पारिभाषिक शब्दकोष से ही हो सकेगा। इस प्रकार अलग-अलग शास्त्रों के अलग-अलग पारिभाषिक शब्दकोष होना स्वाभाविक है। अब प्रातिशाख्य एक स्वतन्त्र शास्त्र है तो उसका भी स्वतन्त्र पारिभाषिक शब्दकोष अपेक्षित है। प्रस्तुत 'प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष' इस अपेक्षा को पूरा कर सकेगा, ऐसा विश्वास है। किन्तु यहाँ यह अवधेय है कि यह कोष-ग्रन्थ सूचक-शब्द (catch word) के प्रसंग में प्रातिशाख्यों से तत्तत् सूत्रों का उल्लेख और सम्बद्ध सामग्री तो देता है किन्तु संहिताओं से उद्धृत मन्त्रांशों का अनेक स्थलों पर विश्लेषण नहीं करता। ऐसा करने पर कोष-ग्रन्थ बोझिल हो जाता है।

प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष (निर्माण-विधि)- हर शब्दकोष के निर्माण में एक विधि अपनायी जाती है। शब्दकोष अगर पारिभाषिक हो तो उस में एक विशेष विधि अपनाने की आवश्यकता होती है। प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष इसका अपवाद नहीं है। इस शब्दकोष के निर्माण में अधोलिखित विधि अपनायी गयी है।

इस शब्दकोष में सबसे पहले उस शब्द-विशेष का लघु अर्थ दिया गया है। तत्पश्चात् उस अर्थ का विस्तार। उसके बाद संहिताओं से उदाहरण दिया गया है, 'यथा' इस शीर्षक-बिन्दु से। उसके बाद वैदिक व्याकरणगत नियमों को दर्शाने हेतु उपलब्ध पाँच प्रातिशाख्यों से उद्धरण या सन्दर्भ दिये गये हैं। उसके बाद पारिभाषिक-शब्द से सम्बद्ध कुछ विशेष तथ्य अवशिष्ट रहते हैं तो उन्हें 'विशेष' इस शीर्षक-बिन्दु से

दर्शाया गया है। एकाधिक विशेष होने पर विशेष[1], विशेष[2] एवं विशेष[3] भी हो सकते हैं। तत्पश्चात् अन्य ग्रन्थों (जैसे, शिक्षा, निरुक्त एवं अष्टाध्यायी) से सम्बद्ध तथ्यों को तुलनीय 'तुल.' एवं परामर्शणीय 'परा.' जैसे शीर्षक-बिन्दुओं से दर्शाया गया है। उदाहरण के लिए यहाँ एक शब्द को उद्धृत किया जा सकता है -

अकाम सन्धि पदादि रेफ होने पर पदान्त रिफित विसर्जनीय का लोप होना।

- यथा युवो रंजासि (युवोः रंजासि) सुयमासो अश्वा रथः = ऋ.सं.1.1801.1
- रेफोदयो लुप्यते। अवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते। ऋ.प्रा.4.28
- अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते। तै.प्रा. 8.16
- रेफे लुप्यते दीर्घञ्चोपधा। वा.प्रा.4.36

विशेष[1]. तै.प्रा. और वा.प्रा. में अकाम-संज्ञा का प्रयोग तो नहीं किया गया है किन्तु अकाम-सन्धि का विधान किया गया है।

यथा रेवती रमध्वम्=रेवती रमध्वम्। कृ.य.1.3.7

मतिभिः रिहन्ति=मतिभि रिहन्ति। शु.य. 7.16

विशेष[2] तै.प्रा. के अनुसार 'एष्टाराय:' के अतिरिक्त अन्यत्र अवर्ण-भिन्न स्वर के बाद विसर्जनीय का लोप होता है।

पुनश्च, समानार्थक अन्य शब्दों के आने पर प्रधानता के आधार पर एक शब्द की व्याख्या कर दी गई है और अन्य शब्दों को द्रष्टव्य 'द्र.' से सम्बद्ध किया गया है। जैसे, वर्ण-समाम्नाय की व्याख्या की गयी है तो अक्षर-समाम्नाय को (द्र. **वर्ण-समाम्नाय**) इस प्रकार दिखाया गया है।

परियोजना : संस्वीकृति, संचालन एवं गति

भाषानुभाग के अध्यक्ष प्रो.शिवकुमार मिश्र द्वारा प्रस्तावित, तत्कालीन प्राचार्य डॉ.गयाचरण त्रिपाठी द्वारा अनुमोदित 'प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोष' परियोजना संचालन की संस्वीकृति राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

द्वारा 1988 ई. में ही प्राप्त हो गई थी किन्तु इस पर प्रो. शिवकुमार मिश्र, डा. शैलकुमारी मिश्र और डा.बनमाली बिश्वाल द्वारा वास्तविक कार्यारम्भ ई.1995 से किया गया है। बीच में इस योजना में डॉ. रामनारायण मिश्र को भी जोड़ा गया। इसका सम्पादन ई.2001 में सम्पन्न हुआ और हस्तलिखित प्रेस-कापी तैयार कर ली गई। ई.2001में प्रो.शिवकुमार मिश्र एवं 2002 ई.में डॉ.रामनारायण मिश्र के सेवानिवृत्त हो जाने और काल-क्रम से दो-तीन प्राचार्यों के पदस्थापन और स्थानान्तरण तथा अन्य दो पदाधिकारियों के विद्यापीठीय अन्यान्य शैक्षणिक कार्यों में व्यापृत हो जाने के कारण इसका प्रकाशन विलम्बित रहा। प्रो.सर्वनारायण झा के प्राचार्य-काल (ई.2013) में प्रकाशन की दिशा में कुछ गति आई। आज 2015 में प्रो.शैलकुमारी मिश्र के प्राचार्य-काल में यह कोष-ग्रन्थ संकल्पना के अनुरूप प्रकाशित हो रहा है। सेवानिवृत्ति के पश्चात् भी प्रो. शिवकुमार मिश्र सक्रियता और मनोयोग के साथ इस कार्य से जुड़े रहे।

आभार : इस कोष-परियोजना के संचालन में उपर्युक्त सभी विद्वानों की यथानुरूप सहभागिता है। अत एव अपनों के प्रति आभार-प्रदर्शन वस्तुतः प्रदर्शन-मात्र ही होगा। हाँ, संहिताओं से कतिपय उद्धरणों के उच्चारण व पाठ से सम्बद्ध समस्याओं के स्पष्टीकरण-हेतु समय-समय पर वैदिक विद्वान् डॉ. चिरंजीवी शर्मा, प्राचार्य, वेदभवन संस्कृत महाविद्यालय, दारागंज, इलाहाबाद से परामर्श किया गया और उन्होंने सोत्साह गंगानाथ झा परिसर में आकर अपनी सेवाएं दी हैं। तदर्थ हम आभारी हैं। गंगानाथ झा परिसर के पुस्तकालय के अधिकारियों/कर्मचारियों के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं जिनसे हमें सम्बद्ध पुस्तकें सुलभतया प्राप्त होती रही हैं।

सम्पादक

Preface

We (the team members of this pilot project) are extremely happy to present this 'प्रातिशाख्य-पारिभाषिक-शब्दकोश' (The Dictionary of the Technical Terms of प्रातिशाख्य-s) to the vast world of Sanskrit Studies in general and the Vedic Grammatical Studies in particular. Hope this unique Dictionary will fulfill a long-felt desideratum in this area. It was not really an easy task to prepare this important work in time frame, and therefore, required a number of years to accomplish it in the present shape. This will certainly prove to be a distinctive contribution to the concerned field in India as well as abroad. *Vedas* are the oldest extant literary works mainly taken as the flow of the intuitional vision of the vedic seers. We have a very long tradition of the expression of their meanings and interpretations. It seems to have been started just during the period of the ब्राह्मण-texts. Later on the वेदाङ्ग-s came into picture having been declared as quite necessary to study and understand the *vedas* : षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च (Mbh.). Out of these वेदाङ्गs, शिक्षा, छन्द and व्याकरण appear to have been the subject scope of the various प्रातिशाख्य-s primarily.

प्रातिशाख्य is a work on Vedic grammar of a specific nature which is concerned mainly with the euphonic changes and other changes in the vedic पदपाठ as compared with the running texts i.e. the संहिता itself. The प्रातिशाख्य-works are neither concerned with the sense of word, nor with their division into bases and nor with their etymology. They contain more or less vedic passages arranged

from the point of view of सन्धि. In the प्रातिशाख्य-s available today, topics of 'metre recital' phonetics and the like are introduced but it appears that originally the ऋक्प्रातिशाख्य just like the अथर्व-प्रातिशाख्य, was concerned with euphonic changes. The other subjects being introduced later on. The word प्रातिशाख्य shows that there were such treatises for each of the several शाखा-s or branches of each Veda, many of which later on disappeared as the number of the followers of those branches dwindled. Out of the remaining ones also, many were combined with others of the same Vedas. As a result, only a small number of प्रातिशाख्य-s are available today. As it is well known to all, only the following प्रातिशाख्य-s are available as the surviving representatives of the ancient ones : the ऋक्-प्रातिशाख्य of शौनक, the तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, the वाजसनेयी-प्रातिशाख्य of कात्यायन, the ऋक्-तन्त्र of शाकटायन, the चतुरध्यायी of शौनक along with the अथर्व-प्रातिशाख्य. Out of these, ऋक्-तन्त्र is practically an आर्चिकसंहिता of the सामवेद.

The word पार्षद or पारिषद् was also used for the प्रातिशाख्य as they were the outcome of the discussion of learned scholars in Vedic assembly (परिषदि भवम् पारिषदम् / पार्षदम्). Althogh the प्रातिशाख्य-works in nature are preliminary works on grammar, it appears that the available प्रातिशाख्य-s which are the revised and enlarged editions of the old ones, are written after पाणिनि's grammar. However, some of the present प्रातिशाख्य-s, ofcourse representing several ancient प्रातिशाख्य-s, are written before पाणिनि. उव्वट, a learned scholar of the 12^{th} century has written a brief commentary on the ऋक्-प्रातिशाख्य and another on the वाजसनेयी-प्रातिशाख्य. The तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य has got two commentaries : one by Gargya सोमयार्य called त्रिभाष्यरत्न and the other called वैदिकाभरण written by Gopalayajvan. There is a commentary by अनन्तभट्ट on the वाजसनेयी-प्रातिशाख्य. These commentaries are otherwise called भाष्य-s also.

In addition to that, there are four more प्रातिशाख्य–s which are not available today :

- आश्वलायन (नापि आश्वलायनाचार्यादिलिखितप्रातिशाख्यसिद्धम्, वा. प्रा. अनन्तभाष्य, P. 4)
- वाष्कलप्रातिशाख्य (उपद्रुतो नाम सन्धिर्वाष्कलादीनां प्रसिद्धस्योदाहरणम्, शांखायनश्रौतभाष्यम् - 12-13-5)
- शांखायनप्रातिशाख्य (Catalogue of Manuscripts, No. 17 of Alwar Govt. Manuscript Library)
- चारायण प्रातिशाख्य (quoted from लौगाक्षि-गृह्यभाष्य of देवपाल 5.1).

Some other vedic grammars similar to प्रातिशाख्य-s are also available. They are :

1. ऋक्तन्त्र by शाकटायन or औदव्रजी (ऋक्तन्त्र-व्याकरणे शाकटायनोऽपि इदमक्षरं छन्दः - नागेशप्रणीतलघुशब्देन्दुशेखर)

ऋचां तन्त्र-व्याकरणे पञ्चसंख्याप्रपाठकम्।
शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशत्खण्डकाः स्मृताः॥

ऋक्तन्त्र-व्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औदव्रजीरप्यसूत्रयत् शब्दकौस्तुभ 1.1.8

2. लघु-ऋक्तन्त्रम्
3. अथर्वचतुरध्यायी of शौनक or कौत्स (in Whiteny's Manuscript, it is शौनक but in the mss. collected by वालशास्त्री गदेरा, Gwalior it is कौत्स as in the end of every chapter it is said : इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुराख्यायिकायाम्
4. प्रतिज्ञासूत्र of कात्यायान
5. भाषिकसूत्र of कात्यायान (परिशिष्ट शुक्लयजुर्वेद)
6. सामतन्त्र of औदव्रजी or गार्ग्य
7. अक्षरतन्त्र of आपिशलि (describes the rules of सामगान).

Out of these seven works, the first five deal with the vedic accents etc. as it is done in other प्रातिशाख्य-s. The No.s 4-5 are the परिशिष्ट of शुक्लयजुर्वेद and the last two deal with the rules of सामगान. Therefore, they are accepted as the प्रातिशाख्य-s of गानसंहिता of सामवेद (More details on प्रातिशाख्य can be seen in 28th अध्याय of व्याकरणशास्त्र का इतिहास).

Here in this Dictionary around six hundred Technical Terms are compiled from available प्रातिशाख्य-s and they are explained with short meanings followed by elaborative ones along with examples from different Sa□hitās placed under a heading : यथा followed by the citations with references from प्रातिशाख्य-s, शिक्षा-s and other व्याकरण-texts etc.

More specific details of the related topic are given under a heading titled as विशेष. In case of more than one ponits they (i.e.the विशेषs) are differentiated from each other as विशेष[1], विशेष[2] etc. However, if such details are raised from non-प्रातिशाख्य-texts, they are accomodated under another heading titled तुल. (i.e. तुलनीय or cf.) referring to comparative analysis. In case of just linking the topics with other grammatical texts, another heading is used as परा (i.e. परामर्शणीय) meaning 'may be consulted with'.This way, the present Dictionaray proves itself as the tools for the researchers interested in serious comparative grammatical studies (i.e. between प्रातिशाख्य and other grammatical texts).

Today प्रातिशाख्य-texts are being rarely studied in the courses run by universities (general as well as traditional both). In fact, since a very little portion is prescribed in courses of studies, the students or teachers do not feel it necessary to procure the topics of प्रातिशाख्य-texts. Hence, one can find these texts only in enriched libraries or in the personal libraries of great scholars. Since maximum सूत्र-s of प्रातिशाख्य are quoted in this Dictionary and they are also alphabetically indexed in the Appendix - 5 or परिशिष्ट-5 (i.e सन्दर्भानुक्रमणिका), the present कोष will serve the purpose of a hand-book to some extent procuring the complete प्रातिशाख्य-texts in a single volume. Besides, it may also provide a unique platform to the students, researchers as well as the scholars of प्रातिशाख्य-s for exchanging fresh thoughts on the topic concerned.

Editors

अ

अंश विराट् प्रकृति, द्र. ताराड्

अकाम सन्धि पदादि रेफ होने पर पदान्त रिफित विसर्जनीय का लोप होना

यथा : *युवो रंजासि सुयमासो अश्वा रथः।* ऋ.सं.1.180.1

– रेफोदयो लुप्यते। ऋ.प्रा. 4.28

– अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते। तै.प्रा. 8.16

– रेफे लुप्यते दीर्घञ्चोपधा। वा.प्रा. 4.36

विशेष[1] तै.प्रा. और वा.प्रा. में 'अकाम' - संज्ञा का प्रयोग तो नहीं किया गया है किन्तु अकाम-सन्धि का विधान किया गया है।

यथा : *रेवती रमध्वम्=रेवती रमध्वम्।* कृ.य. 1.3.7

मतिभिः रिहन्ति=मतिभि रिहन्ति। शु.य. 7.16

विशेष[2] तै.प्रा. के अनुसार 'एष्टारायः' के अतिरिक्त अन्यत्र अवर्ण-भिन्न स्वर के बाद विसर्जनीय का लोप होता है।

अक्षर[1] वर्ण, स्वर तथा व्यञ्जन।

यथा : अ, आ, इ आदि एवं क, ख, ग, घ, आदि।

– वर्णो वा। वा.प्रा. 8.49

परा. अथ वर्णाः संज्ञा-प्रत्याहार-समाः। ऋ.तं., प्र.प्र.

तुल. स्वरोऽक्षरम्। वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रम्। म.भा.आ. 2

अक्षर[2] अक्षरसमाम्नाय (वर्णसमाम्नाय) उपदिष्ट वर्णों का समुदाय।

यथा : अ, आ, इ, ई आदि।

– तत्समुदायोऽक्षरम्। वा.प्रा. 8.48

- उपदिष्टाः वर्णाः। वा.प्रा. 1.34
- इदमक्षरम् छन्दोवर्णशः सममनुक्रान्तम्। ऋ.तं., प्र.प्र. 4

तुल. उपदिष्टा इमे वर्णाः। म.भा.आ.1

अक्षर [3] पद

यथा : *इषे त्वा उर्जे त्वा* (11 शु.य.)

अक्षरं वा। वा.प्रा. 8.51

अक्षर [4] व्यञ्जन से युक्त, अनुस्वार-सहित तथा व्यञ्जन एवं अनुस्वार-रहित शुद्ध स्वर अक्षर-संज्ञक होता है।

सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.32

अक्षर [5] स्वर। शुद्ध (स्वर), अनुस्वार-सहित एवं व्यञ्जन-सहित स्वर।

- उभये त्वक्षराणि। ऋ.प्रा. 1.19
- सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। ऋ.प्रा.18.32
- स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। उत्तरैश्चावसितैः। वा.प्रा. 1.99-101
- अक्षरम्। ऋ.तं. 2.46
- स्वरोऽक्षरम्। च.अ. 1.93

तुल. स्वरोऽक्षरम्। म.भा.आ. 2

विशेष अक्षर का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ क्षरण (क्षय) न होना है।

- न क्षरन्तीति अक्षराणि, क्षरणम् अन्याङ्गतया चलनम्। तै.प्रा. 1. 2 पर वै.भा.

तुल. अक्षरं न क्षरं विद्यात् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्। म.भा.आ.2

अक्षर-समाम्नाय द्र. वर्ण-समाम्नाय

अक्षरसंहिता अक्षरसंयोग। एक से अधिक अक्षरों (स्वर-स्वरों) का संयोग।

यथा : *अथाब्रवीत्* तै.सं. 3.2.11

- यथास्वमक्षरसंहितादीनामप्येवम्, तै.प्रा.24.4

अक्षराङ्ग द्र. अङ्ग

अघोष अनुप्रदान (बाह्य-प्रयत्न-विशेष), विवृत कण्ठ (श्वासाख्य मूलप्रकृति = वायु) से अभिव्यक्त वर्ण।

यथा : ऊष्म (श, ष, स), विसर्जनीय (अः), जिह्वामूलीय (ᳵक), अनुस्वार (अं) और वर्गों के प्रथम तथा द्वितीयाक्षर।

- अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः, वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ।
ऋ.प्रा. 1.11-12

- ऊष्मविसर्जनीय-प्रथम-द्वितीया अघोषाः, न हकारः।
तै.प्रा. 1.12-13

श्वासोऽघोषाणाम्। ऋ.प्रा. 13.4

-विवृतोऽघोषो नादानुप्रदानाः स्वरघोषवन्तः। श्वासोऽघोषाणाम्।
ऋ.तं.प्र.प्र.3

- श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानः। च.अ. 1.12

परा. तै.प्रा. 1.12 पर वै.भा

अघोष-निभता अघोषवत् उच्चारण। सघोष हकार का अघोष वर्ण के समान उच्चारण।

- श्वासोऽघोष-निभता वा हकारे। ऋ.प्रा. 14.28

अङ्ग स्वराङ्ग व्यञ्जन, अनुस्वार, विसर्जनीय, स्वरभक्ति, यम, क्रम, अवसित व्यञ्जन, संयुक्त व्यञ्जन आदि के स्वरों का अङ्ग होना। अर्थात् अक्षरीकरण या अङ्गीकरण।

विशेष अङ्ग के लिए स्वराङ्ग का भी प्रयोग किया गया है।
- व्यञ्जनं पूर्वस्यान्तस्वरम्। ऋ.तं. 20

अणु[1] अर्धमात्रा काल। ऋं. तं. में अर्धमात्रा काल को अणु-संज्ञा से अभिहित किया गया है। यथा : *वरित-विनत-प्रणत अभिगीतों* में 'अकार' का अर्धमात्राकाल उच्चारण होता है।

- अर्धमणुः ऋं.तं 41

अणु [2] अर्धमात्रा का आधा काल, ये मात्रा कालवाली वर्णध्वनि अणु-संज्ञक होती है, जिसको ऋ.प्रा. में 'अर्धोना' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

यथा : *आर्ष्टिषेणः।* ऋ.सं. 10.98.5

- तदर्धमणुः। वा. प्रा. 1.60
- अर्धोनान्या। ऋ.प्रा. 1.35
- अणुमात्रा चतुर्थांश मात्रा। च.अ.1.65 पर निर्मल-भाष्य।

परा. तै.प्रा. 19.3

अर्णः विराट् कृति। द्र. ताराड्

अतिछन्दस् जगती छन्द के पश्चात् के छन्द, जिनमें चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है।

- द्वावतिछन्दसां वर्गा उत्तरौ चतुरुत्तरौ। ऋ.प्रा.16.79

अतिजगती बावन अक्षरों वाला छन्द। इस छन्द के प्रत्येक चरण में तेरह अक्षर होते हैं।

यथा : *तमिन्द्रं यो हवामि मघवानमुग्रम्।* ऋ.सं. 1.137.1

- प्रथमातिजगत्यासां सा द्विपञ्चाशदक्षरः। ऋ.प्रा.16.80

अतिधृति छिहत्तर अक्षरों वाला छन्द।

यथा : *सहि सधौ न मारुतं तुविष्वणिः।* ऋ.सं.1.127.6

- षट्सप्ततिस्त्वतिधृतिः। ऋ.प्रा. 16.86

अतिनिचृत् गायत्री गायत्री का एक भेद। सात-सात अक्षरों वाले दो चरणों के मध्य में छह अक्षरों वाला एक चरण होने पर बीस अक्षरों वाला छन्द।

यथा : *पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाची।* ऋ.सं. 6.45.29

षट्क-सप्तकयोर्मध्ये स्तोतृणां विवाचीति।

यस्या सातिनिचृन्नाम गायत्री द्विर्दशाक्षरा।। ऋ.प्रा. 16.22

अतिव्यक्त प्रयत्नाधिक्य से उच्चारण। किसी ध्वनि का अपेक्षित प्रयत्न द्वारा उच्चारण न करके उसमें अतिशय प्रयत्न लगाकर उच्चारण करना अतिव्यक्त उच्चारण-दोष है।

– नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेव वर्णानुदीरयेत्। तै.प्रा. 17.8

अतिव्यस्त अतिविवृत। अकार के उच्चारण में ओष्ठ (स्थान) और हनु (करण) अतिविवृत नहीं होते और ओकार के उच्चारण में हनु भी अतिविवृत नहीं होता।

– अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्। तै.प्रा. 2.12

– ओकारे च। तै.प्रा. 2.13

अतिशक्वरी साठ अक्षरों वाला छन्द। इस के प्रत्येक चरण में पन्द्रह अक्षर होते हैं।

यथा : *सुषमा यातमद्रिभिः।* ऋ.सं.10. 133.1

– षष्टिरेवातिशक्वरी। ऋ.प्रा. 16.82

अतिस्पर्श आवश्यकता से अधिक स्पर्श के साथ उच्चारण। आवश्यकता से अधिक स्पर्श के साथ रेफ और लकार का उच्चारण।

– अतिस्पर्शो बर्बरता च रेफे। ऋ.प्रा. 14.26 पर उ.भा.

– दुःस्पृष्टः स रेफः अतिस्पृश्यते।

अत्यष्टि अड़सठ अक्षरों वाला अति छन्द।

यथा : *अयारुचा हरिण्या पुनानः।* ऋ.सं. 9.111.1

– ततोऽष्टाषष्टिरत्यष्टिः। ऋ.प्रा. 16.84

अत्युपसंहृत अतिसंवृत। अकार के उच्चारण में ओष्ठ (स्थान) और हनु (करण) अतिसंवृत नहीं होते।

– अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्। तै.प्रा.2.12

अधिकारक अधिकार का निर्देशक।

यथा : अथ।

– अथ संहितायामेकप्राणभावे। तै.प्रा. 5.1

– त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारका:। तै.प्रा. 1.19

अधिस्पर्श प्रयत्नशैथिल्य। पदान्तीय यकार और वकार का प्रयत्न-शैथिल्य से उच्चारण।

यथा : *महाँ य इन्द्र:।* वा.सं. 7.39

देवा यिह। विष्ण विह।

– लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनस्य। च.अ. 2.24

विस्तृत उद्धरण के लिए द्र. लेश।

विशेष [1] माचाकीय एवं अन्य कतिपय आचार्य पदान्तीय 'य' और 'व' का, सांकृत्य तथा नैगि आदि आचार्य केवल 'य' का तथा कुछ आचार्य केवल 'व' का लोप मानते हैं किन्तु नैगि 'उकार' पर में हो तो 'व' का भी लोप मानते हैं।

विशेष[2] वास्त्वप्रस्य, शाकटायन तथा कतिपय अन्य आचार्य इस प्रसंग में 'य' और 'व' का लुप्तवद् (प्रयत्न-शैथिल्य से) उच्चारण मानते हैं।

अध्याय साठ प्रश्नों का समूह। अध्याय के समाप्त होने पर यदि सूक्त समाप्त न हो तो अवशिष्ट मन्त्रों से कुछ प्रश्न भी प्रचलित अध्याय के अन्तर्गत ही परिगणित होंगे।

– सं. ते षष्टिरध्याय उपाधिका वा सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ता:। ऋ.प्रा. 15-31

अनाद अनुच्चारण। पदादि संयुक्त वर्णों में आद्य सोष्म तथा ऊष्म वर्णों का अनुच्चारण।

यथा : *छायामिव, श्चोतन्ति, स्तौति।* ऋ.सं. 6.13.38

– सोष्मोष्मणामनुनादोऽप्यनाद:। ऋ.प्रा. 14.19

अनानुपूर्व्य संहिता पदों के क्रम से न होने वाली संहिता। पदपाठ में विद्यमान पदों के क्रम का संहितापाठ में व्यतिक्रम।

यथा : *शुनश्चिच्छेपं निदितं* ऋ.सं. 5.2.7

शुन:शेपम्। चित् निदितम्। (पदपाठ) शुनश्चिक्षेपं निदितं नरा वा शंसं पूषणम्। नरा वा शंसं दैत्यं ता अनानुपूर्व्यसंहिता:।

ऋ.प्रा. 2.78

विशेष ऋग्वेद में अनानुपूर्व्य-संहिता के केवल तीन ही उदाहरण मिलते हैं।

यथा : *शुनश्चिक्षेपं निदितम् सहस्रात्।* ऋ.सं. 5.2.72

– *नरा वा शंसं पूषणगोह्यम्।* ऋ.सं. 10.64.3,3

– *नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि।* ऋ.सं. 9.86.42

अनिङ्ग्य अवग्रह द्वारा अविभाज्य। पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा विभाग न किये गये पद।

यथा : उष्ट्रानाम्। यह पद अवग्रह द्वारा विभक्त न होने से अनिङ्ग्य है। और 'अनुऽव्रते' अवग्रह द्वारा विभक्त होने से अनिङ्ग्य नहीं है।

– सं. सन्ध्य उष्माप्यनिङ्ग्यौ। ऋ.प्रा. 5.41

– पदेष्वन्तरनिङ्ग्येषु प्लुति: पद्येषु चोत्तरा। ऋ.प्रा. 9.25

द्र. ऋ.प्रा. 13.30

– त्वे इत्यनिङ्ग्यान्त:। तै.प्रा. 4.10

परा. अहारहस्सुवरनिङ्ग्यान्त:। तै.प्रा. 8.13, द्र. च.अ. 4.11

विशेष ' च.अ. में अनिङ्ग्य शब्द के लिए अनिङ्ग शब्द का प्रयोग हुआ है।

यथा : अनिङ्गेन पूर्वेण च.अ. 4.12

विशेष[2] च.अ. 4.113 के भाष्य में व्यञ्जन से असंयुक्त शुद्ध स्वर को ही अपृक्त संज्ञा बताया गया है।

– अव्यञ्जनमिश्रशुद्धकेवलस्वर:। 4.113

अनुत्तम पञ्चम-वर्ण के अतिरिक्त समस्त स्पर्श-वर्ण।

उत्तम-व्यतिरिक्तो वर्ण:। तै.प्रा.14.24 पर वै.भा. तथा च.अ. 1.99 पर निर्मल-भाष्य।

अनुदात्त एक से अधिक स्वर वाले पद जहाँ प्रथम स्वर उदात्त हो।

यथा : परा, अनु, उप, अप, परि, प्रति, अति, अधि, अव, अपि।

– आद्युदाता दशैतेषाम्। ऋ.प्रा. 12.23

भूति, 'न रिष्येम' पूर्व में हो तो 'कदा', आमन्त्रित, मृगवाचक कृष्ण, विकारीवाचक अन्त:, प्रधान अर्थ पर, परिमाण अर्थ में मात्रा, दश, विश्वकर्मा, निषध, इन्द्रस्थ, पातुद् सद: तथा सद्भ्य: पद बाद में न होने पर 'दक्षिणा', शरीरावयव अर्थ में कर्ण, नपुंसकलिङ्ग में 'मह:', 'श्रव:', शक्त्यर्थ में अन्ध, वर्ण और अर्थ, असमस्त रोहित, 'राट्' बाद में होने पर यन्त्री, अनामन्त्रित औषधि, सर्व, विश्व, मानुषा, आशा, स्वाहा, बाज:, पय:, नम: असि, शिवा, सुषदा, पयस्वती, यत्ते मधुमती, वर्चस्वान्, ओजिष्ठ:, भ्राजिष्ठ:, शुष्मिणी भद्रवाच्याय, वन्द्य:, मेध्य: यम:, आदित्य, त्रित, सोमेन, स्वसा, धनहा और रत्नधा से परवर्ती 'असि', पोष बाद में न होने पर 'राय', बद्ध और हित बाद में होने पर 'त्रिधा' और भूतकाल में 'सुकृत' ये पद आद्युदात्त हैं। द्र. वा. प्रा. 2.22 से 2.45

तुल. : पाणिनि 6.1.189 से 6.1.216

अनुदात्त ताल्वादि नीचस्थान से उच्चार्यमाण स्वर।

यथा : नः नौ।

– उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः
आयाम विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। ऋ.प्रा. 3.1

– नीचैरनुदात्तः। वा.प्रा. 1.109; तै.प्रा. 1.39; च.अ. 1.15
तुल. नीचैरनुदात्तः, पा.सू. 1.2.30 ।

विशेष ' अनुदात्त स्वर के उच्चारण में वायु के कारण गात्रों का अधोगमन (विश्रम्भ), ध्वनि की मृदुता (मार्दव), गलबिल की विवृतता (उरुता खस्य) ये स्थितियां बनती हैं।

– विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। तेन य उच्यते स अनुदात्तः। ऋ.प्रा. 3.1 पर उ.भा.।

– अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि। तै.प्रा. 22.10 । परा. तै.प्रा. 1.39 पर वै.भा.

तुल. पा.सू. 1.2.30 पर महाभाष्य

अनुदेश पूर्ववर्ती पदार्थ (वस्तु) का निर्देशक सर्वनाम-पद। पूर्ववर्ती पदों के द्वारा अभिहित वस्तु का सर्वनाम-पद से कथन।

यथा : भरन्तोऽश्वोयेव तिष्ठेते घासमेस्मै (वा.सं. 11.74)।

यहाँ 'अस्मै' अनुदेश है। परवर्ती का परामर्शक सर्वनाम अनुदेश नहीं होता।

यथा : सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणे'' (वा.सं. 7.21) ।

– पूर्ववाननुदेशः वा.प्रा. 2.7

अनुनाद अतिरिक्त ध्वनि (उच्चारणगत-दोष)। पदादि संयुक्त वर्णों में

आद्य दोष। सोष्म और ऊष्म वर्णों के उच्चारण में उनसे पूर्व अतिरिक्त ध्वनि का सुना जाना।

यथा : क्रमशः, *अभिख्या, छायामिव, स्तौति।* ऋ.सं. 6.16.38

- घोषवतामनुनादः3 धारणं वा.सं., ऋ.प्रा. 14.18
- सोष्मोष्मणामनुनादोऽप्यनादः। ऋ.प्रा. 14.19

अनुनासिक निरनुनासिक ध्वनियों का सानुनासिक उच्चारण (वर्णगत दोष)। सानुनासिक उच्चारण (दोष)

- नासिकयोस्त्वनुषङ्गेऽनुनासिकम्। ऋ.प्रा. 14.9

विशेष[1] मात्रा के प्रसंग में भारद्वाज के मत को उपस्थापित करते हुए (तै.प्रा.17.3) अणु को लघुतम मात्रा–काल वाला माना गया है।

विशेष[2] अनुनासिक का व्युत्पत्ति–लभ्य अर्थ है : जो वर्ण अपने मूल–स्थान के साथ–साथ नासिका से भी उच्चरित होता है, उसको अनुनासिक कहते हैं।

- "नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीय–स्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते। ऋ.प्रा. 1.14 पर उ.भा.
- नासिकामनुवर्तन्त इत्यनुनासिकाः। तै.प्रा. 2.30 पर त्रिभा.र.।

नासिका–विवरणादानुनासिक्यम्। तै.प्रा. 1.52।

विशेष [3] नकार का रेफ होने पर, ऊष्म वर्ण होने पर, यकार होने पर (उस यकार का लोप होने पर) तथा मकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।

यथा : *अग्नीं रप्सुषदः।* कृ.य. 5.6.1

कर्णाश्चाकर्णश्चय। कृ.य. 1.8.9

महाँइन्द्रः। कृ.य. 1.4.20

सँशितंय मे ब्रह्म। कृ.य. 4. 1.10

– *नकारस्य रेफो लयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्व-स्वरोऽनुनासिकः*। तै.प्रा. 15.2

विशेष [4] पूर्ववर्ती और परवर्ती स्वरों, जिन में एक ओर अनुनासिक स्वर हो, की सन्धि का परिणामी स्वर अनुनासिक होता है।

यथा : *उप अंशु= उपांशुः।* शु.य. 13.54

– अनुनासिकवत्यनुनासिकम्। वा.प्रा. 4.53

विशेष [5] नकार और मकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।

यथा : *पर्यांसि, विंशतिः*। अ.सं.1.9.3

– नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः। च.अ. 1.67

विशेष [6] पदादि लकार होने पर पदान्त मकार और नकार का अनुनासिक लकार हो जाना।

यथा : *तम् लोकम् = तल्लोकम्।* अ.सं. 3.28.5

– *प्रतिमान्लोकाः = प्रतिमाल्लोकाः।* अ.सं. 18.4.5

– उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः। च.अ. 2.356

पदादि अन्तःस्थ (कतिपय आचार्यो के मत में पदादि य, व) हो तो पदान्त मकार सवर्ण अनुनासिक हो जाता है।

यथा : *सम् यत्ताः=सँयत्ताः।* कृ.य. 1.5.1

प्रजवम् वै=प्रजवँव्वै। कृ.य. 7.3.1

सुवर्गम् लोकम्=सुवर्गँल्लोकम्। कृ.य. 1.5.4

- अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्। तै.प्रा. 5.28
- वकारः परश्चैकेषामाचार्याणाम्।। तै.प्रा. 5.30
- अन्तस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्। वा.प्रा. 4.10

अनुनासिक स्वर गुरु होता है, किन्तु पदमध्य ह्रस्व।

- अनुनासिकञ्च। च.अ. 1.53
- अनुनासिकोऽन्तःपदे ह्रस्वः। च.अ.1.83

व्याडि आचार्य के मत में अनुस्वार नासिकास्थान वाला (नासिक्य) अथवा मुखनासिका द्विस्थानवाला अनुनासिक होता है।

यथा : *त्वां राजेन्द्र=त्वाँ राजेन्द्र* । ऋ.सं. 1.1.74

- व्याडिर्नासिक्यमनुनासिकं वा। ऋ.प्रा. 13.37

शैत्यायन के मत के अनुसार अनुस्वार और उत्तम वर्णों में अनुनासिक्य (अनुनासिकधर्म) तीव्रतर होता है, जब कि कौहली आचार्य के पुत्र के मत में सभी अनुनासिक वर्णों में आनुनासिक्य समान रूप से तीव्रतर होता है किन्तु स्थविर-कौण्डिन्य के मत में रेफ, उष्म और यकार का आनुनासिक्य उत्तरोत्तर तीव्रतर होता है। भारद्वाज के मत में अनुस्वार में आनुनासिक्य अणुमात्रा होता है।

- तीव्रतरमानुनासिक्यमनुस्वारोत्तमेष्वितिशैत्यायनः। तै.प्रा.17.1
- समं सर्वत्रेति कौहलीपुत्रः। तै. प्रा. 17.2
- अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः। तै.प्रा. 17.3
- नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्चोत्तरमुत्तरं तीव्रतरमिति स्थविरः कौण्डिन्यः। तै.प्रा. 17.4

अनुनासिक[1] *भद्रैषाँल्लक्ष्मीः।* ऋ. सं.10.71.2

तँत्व इन्द्रं न सुक्रतुम्। ऋ.सं. 6.48.14

अनुनासिक ² मुख और नासिका से उच्चारित वर्ण या वर्ग का पञ्चमाक्षर या अनुस्वार, रेफ-रहित सानुनासिक अन्तस्थ और सानुनासिक स्वर।

- अनुनासिकोऽन्त्यः। ऋ.प्रा. 1.14
- अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै.प्रा. 2.30
- अनुनासिकाश्चोत्तमाः। वा.प्रा. 189
- उत्तमाः अनुनासिकाः। च.अ. 1.11
- अन्त्योऽनुनासिकः ऋ.तं.17
- मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्। तै.प्रा. 5.27
- नकारोऽनुनासिकम्। तै. प्रा. 5.26

पञ्चमाक्षर। यथा : "प्रत्यङ्होतारम्" तै.सं. 6.3.1

अनुस्वार। यथा : *"यो...... शुम"*,

अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः।

सानुनासिका अन्तःस्था।

"यँय्यँय्युजं कृणुते"। ऋ.सं. 1.25.1

- अन्तःस्थासु रेफवर्जं परासु। तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु। ऋ.प्रा.4.7
- अन्तःस्था परश्च सवर्णमनुनासिकम्। तै.प्रा. 5.28
- उत्तमलभावात्पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः। तै.प्रा. 5.31
- अन्तःस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्। वा.प्रा. 4.10
- अनुनासिकमुपधा प्रागन्तःस्थायाः। वा.प्रा. 3.130
- उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः। च.अ.2.35

अनुप्रदान बाह्यप्रयत्न (श्वास-नादात्मक)। उच्चारण-अवयवों से वर्णो की अभिव्यक्ति में मूल कारण। इसके निम्न भेद होते हैं- श्वास,

नाद, विवार, संवार, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। ये अनुप्रदान कहलाते हैं।

– वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्। ऋ.प्रा.13.1

– वायुमनुप्रदीयत इत्यनुप्रदानम्। किं च तत्? श्वासनादोभयम्। ऋ.प्रा.13.1 पर उ.भा.

– अनुप्रदीयते अनेन वर्ण इति अनुप्रदानं मूलकारणम्। अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थः। तै.प्रा. 2.8 पर त्रिभा.र,

– कोष्ठ्यवायुसमुद्भवात्परं मूर्ध्नि प्रतिघातान्निवृत्ते तस्मिन् कण्ठस्य संवारादयो यथोक्तस्तिस्रोऽवस्था भवन्ति, तदा प्रदीयन्ते स्थानेषु निवेश्यन्ते एभिर्वर्णा इत्यनुप्रदानानि। तै.प्रा. 2.8 पर वै.भा.

परा. श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानः नादो घोषवत्स्वरेषु। च.अ.1.12, 13

वस्तुतः प्रयत्न तो तन्त्रियों के संकोच और विकास करने में ही किया जाता है। इसलिए संकोच और विकास को ही अनुप्रदान कहना चाहिए। श्वास और नाद तो संकोच-विकास- रूप अनुप्रदान के फल हैं। लेकिन कारण और कार्य में भेद नहीं मानते हुए श्वास और नाद भी अनुप्रदान कहे जाते हैं।

– काकलकाधस्ताद्गलविवरसंकोचविकासादिकरा गलविवरविभासादिकराश्चास्य बहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद्बाह्या इति। लघुशब्देन्दुशेखर, पृ. 34

अनुलोम अन्वक्षर-सन्धि। एषः, स्यः, सः तथा पदान्त स्वर का पदादि व्यञ्जन से मेल।

यथा : *एषः एव देवो अमर्त्यः। स्यः – उतस्य वाणी क्षिपणिम्। सः – स सुतः पीतये। स्वरः – न नि भिषति सुरणः।*

ऋ.सं. 9.3.1, 4.4.4, 9.37.1, 3.29.14

- एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदैभ्य:। तेऽन्वक्षर-सन्धयोऽनुलोमा:। ऋ.प्रा. 2.8

विशेष [1] अनुलोम इसलिए कि वर्णमाला में स्वर पहले और व्यञ्जन बाद में आते हैं।

विशेष [2] पदान्त स्वर पदादि व्यञ्जन के प्रसंग में सन्धि का आशय स्वर और व्यञ्जन की सन्निधि में है, न कि विकार में।

अनुष्टुभौष्णिहं ऐसा प्रगाथ जिसके पूर्व में अनुष्टुभ् एवं अन्त में उष्णिक् हो।

यथा : *ते म आहुर्य आययु:।* ऋ.सं. 5.53.3-4

- आनुष्टुभौष्णिहं विद्यात्ते म आहुर्य आययु:। ऋ.प्रा.18.20

अनुष्टुभ् प्रथम वर्ग का तृतीय छन्द। यह बत्तीस अक्षरों वाला होता है। इसके चारों चरणों में आठ-आठ अक्षर होते हैं।

यथा : *गायन्ति त्वा गायत्रिण:।* ऋ.सं. 1.10.1

- द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षरा: समा:। ऋ.प्रा.16.37

अनुष्टुभ्गर्भा उष्णिक् उष्णिक् का एक भेद। इस छन्द का प्रथम पाद पाँच अक्षरों का एवं बाद के तीन पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं।

यथा : *प्र पितुं नस्तोषं महोधर्माणं तविषीम्।* ऋ.सं. 1.187.1

- आद्य: पञ्चाक्षर: पाद उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रय:।
अनुष्टुब्-गर्भैषोष्णिक् सागस्त्येऽस्ति पितुं न्विति।
ऋ.प्रा. 16.36

अनुस्वार अं (ं) स्वरों के पश्चात् उच्चारित होने वाला व्यञ्जनस्थानिक, स्वराश्रित, बिन्दु-मात्र, नासिक्य (नासिकास्थान-जन्य) ध्वनि, जो स्वर-रूप, व्यञ्जन-रूप तथा उभय-रूप होता है।

यथा : *शं नो देवीरभीष्टये।* ऋ.सं. 1.1.2, ऋ.सं. 10.9.4

– *स्वरः ईड्यो नूतनैरुताँ।* ऋ.प्रा. 1.63

– *इन्दवो वा मशन्ति हिं।* ऋ.सं. 1.2.4

– *तनूँ इति।* तै.सं. 2.2.7

विशेष – ऋ.प्रा. में अनुस्वार को 'रक्त' संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।

– द्र. ऋ.प्रा. 1.36

– *वसुं सूनूं सहसाः* । ऋ.सं. 1.127.1

– अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा। तै.प्रा.1.24 पर वै.भा.

– अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै.प्रा. 2.30

– अं इत्यनुस्वारः। वा.प्रा. 8.21

– अथानुस्वारौ। अं. आं इत्यनुस्वारौ। ऋ.तं. 1.2

विशेष [1] अनुपूर्वक 'स्वृ' – धातु से कर्म अर्थ में 'घञ्'–प्रत्यय करने पर 'अनुस्वार' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है स्वर के अव्यवहित उत्तरार्द्ध में स्वरवत् उच्चारित ध्वनि।

– अनुस्वर्यते पश्चार्द्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः।

तै.प्रा.1.18 पर वै.भा.

तुल. स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः। पा.शि. 5

– अं. इत्यनुसारः, अकार इहोच्चारणार्थ इति। बिन्दुमात्रो वर्णोऽनुस्वारसंज्ञो भवति। अनुस्वारः सलीनं शब्द्यते इत्यनुस्वारः।

विशेष [2] का.व्या. 1.1.19 के अनुसार ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, प्लुतत्व, उदात्तत्व और स्वरितत्व स्वरधर्म से युक्त होने से स्वर होता है। अर्धमात्रिक, कालितपराश्रित, ऊष्मवर्णों में परिगणित

तथा नकार-मकार-स्थानिक होने के कारण अनुस्वार व्यञ्जन-धर्म वाला भी होता है।

विशेष[3] स्वरधर्म वाली वर्णध्वनि होने के कारण अनुस्वार-मात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक तथा व्यञ्जन-धर्म के कारण अर्धमात्रिक होता है, किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (17.3) पर अनुस्वार का काल अणु अर्थात् सूक्ष्मतम मात्रा वाला कहा गया है। ऋ.प्रा.1.10, 3.36, 1.5; च.अ. 1.67

अनुस्वारोऽप्युत्तमवद्व्यञ्जनमेव अस्मच्छाखायाम्
अर्ध-गकाररूपत्वात्। तै. प्रा. 2.30 पर वै.भा.

तुल. चारायणीय शिक्षा, अ. 1

अनेकाक्षर अनेक वर्णों वाला पद।

परा. थानेकाक्षरेण। च.अ. 4.15

तुल. अनेकाक्षरयोस्त्वसंयोगाद्यवौ। का. व्या. 2.2.59

अन्तःपद पदमध्य

यथा : *हवींषि।* वा.सं. 17.75

– नुश्चान्तःपदेऽरेफे। वा.प्रा. 4.2 पर उ.भा.

अन्तःपदविवृत्ति पद के मध्य में होने वाली विवृत्तियाँ।

यथा : *पुर एता "इन्द्र प्र णः पुर एतेन।"* ऋ.सं. 6.47.7

– पुर एता तितउना प्रउगं नमउक्तिभिः अन्तःपदं विवृत्तयः। ऋ.प्रा. 2.13

अन्तःपात सन्धि पदादि अघोष-ऊष्म और पदान्त ङकार, टकार, नकार और ऋकार के मध्य में क्रमशः क्, ट्, च् का आगम होता है।

यथा : *प्रत्यक्ष। सः। विश्वाः=प्रत्यङ्क्स विश्वा भुवना।*

अप्राट्। सः। प्र। एति=अप्राट्त्स प्रैति। ऋ.सं. 10.32.7

त्वम्। तान्। सम्। च प्रति। = त्वंतात्सं च प्रति।

घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि=घनेववज्रिञ्छ्नथिहि।

ऋ.सं 1.63.5

- ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके ककारम्। ऋ.प्रा. 4.16
- टकारनकारयोस्तु। आहुः, सकारोदययोस्तकारम्। ऋ.प्रा. 4.17
- ञकारे शकारपरे चकारम्। ऋ.प्रा. 4.18
- ङपूर्वः ककारस्सषकारपरः। तै.प्रा. 5.32
- टनकारपूर्वश्च तकारः। तै.प्रा. 5.33
- स्पर्शपूर्वश्शकारश्छकारम्। तै.प्रा. 5.34
- नौ क्ताभ्यां सकारे। वा.प्रा. 4.15
- अन्त्यात्प्रथमोऽघोषे। ऋ.तं. 186
- नात् सि। ऋ.तं. 187
- टान्तमेके। ऋ.तं. 188

तुल. ङ्णोः कुक्टुक्शरिः, डः सि धुट्, नश्च, शि तुक्। पा.सू. 8.3.28-31

अन्तःपाद पाद का मध्य।

- 'पादस्य मध्ये' अन्तःपादम्। ऋ.प्रा. 2.35 पर उ.भा.

तुल. प्रकृत्या अन्तःपादमव्यपरे। पा.सू. 6.1.113

अन्तःस्था य, र, ल, व। स्पर्श और ऊष्म-संज्ञक वर्ण के मध्य में पठित, जिह्वा-मध्य प्रभृति करणों के अन्त्यभाग से उच्चारित वर्ण।

- चतस्रोऽन्तःस्थास्ततः। ऋ.प्रा. 1.9
- पराश्चतस्रोऽन्तस्स्थाः। तै.प्रा. 1.8
- अथान्तस्थाः यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः। वा.प्रा. 8.14-15
- यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः। ऋ.तं. 1-2

विशेष ' अस्पृष्ट प्रयत्न वाले स्वर-वर्ण और स्पृष्ट प्रयत्न वाले व्यञ्जन-वर्ण के मध्य में होने के कारण ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न वाले वर्ण (य, र, ल, व) अन्तःस्थ होते हैं।

- स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तःस्थः। ऋ.प्रा.1.9 पर उ.भा.
- जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तैर्जन्यत्वाद्यरलवा अन्तःस्थ इत्याख्यायन्ते। तै.प्रा. 1.8 पर वै.भा.

विशेष [2] य र ल व की विशेषता यह है कि ये अपने समान स्थान वाले स्वर-वर्ण इ, ऋ, लृ, उ में झटिति परिवर्तित हो जाते हैं।

तुल. इग्यणः सम्प्रसारणम्। पा.सू. 1.1.45

अन्ताक्षर अ-भिन्न स्वर, ह, अन्तस्थ एवं क-वर्ग। उपर्युक्त समस्त वर्ण 'सकार' को 'षकार' बनाने में निमित्त हैं। ये वर्ण वर्णमाला में किसी-न-किसी वर्ण के अन्त में रहने के कारण अन्ताक्षर कहलाते हैं। वर्णमाला में 'अ' आदि में होने के कारण अन्ताक्षर नहीं है।

यथा : येषु, तेषु में अन्ताक्षर 'ए' से परे स को 'ष' हो गया किन्तु यासु, तासु में 'आ' अन्ताक्षर से 'स' को 'ष' नहीं हुआ।

- अन्ताक्षरात् ऋ.तं. 278

तुल. इण् कोः। पा.सू. 8.3.57

अन्तोदात्त पद, जिसके अन्त में उदात्त हो।

यथा : *अभि प्रियाणि पवते च नो हित।* ऋ.सं. 19.75.1

- अन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम्। ऋ.प्रा. 12.24

विशेष विचार अर्थ में आसी, इत् पूर्व पद में 'इन्द्र' एवं 'सोम' तथा उत्तर पद में 'पूषा' 'अग्नि' एवं 'वायु' होने पर द्वन्द्वसमास, 'अग्नि' एवं 'ऋक्' पूर्वपद होने पर, उत्तरपद होने पर 'इन्द्र' 'सामन्', गत्यर्थ में 'यतः' 'पायु' शब्द से परवर्ती 'विशः', 'आर्यमा', 'ऊर्वसी' और 'अस्ति' शब्द से परवर्ती 'आयुः',

'रोचना', 'असौ', 'बोधा मे', 'पारं', 'पूर एतारः', 'दिवः', कः', 'अह', 'त्वं', 'महीम्', 'य ईशे' तथा 'ईशानं प्रत्नाम्', 'यज्ञस्य', 'हविषः', 'पाहि', 'इत्', 'पातं', 'मध्वः', 'यजमानस्य', 'होतुः अजरासः' और 'लोकः' शब्द से परवर्ती 'अस्य' ये पद अन्तोदात्त होते हैं। द्र. वा.प्रा. 2.54 से 2.62

तुल. पा.सू. 6.1.162, 6.1.223, फिट्-सूत्र 1.1

अन्वक्षरवक्त्र सन्धि पदादि ऊष्म वर्ण के बाद अघोष वर्ण होने पर पदान्तीय वर्ण का लोप होना।

यथा : *समुद्रः। स्थः। = समुद्रस्थः कलशः सोमधानः।*

ऋ.सं. 6.69.6

– ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नतेऽपि। ऋ.प्रा. 4.36

– सोऽन्वक्षरसन्धिर्वक्त्रः। ऋ.प्रा. 4.37

– ऊष्मपरोऽघोषपरो लुप्यते काण्डमायनस्य। तै.प्रा. 9.1

– लुङ्मुदि जित् परे। वा.प्रा. 3.13

अन्वादेश कथित का पुनः कथन। किसी अभिधेय का एक शब्द या शब्दसमूह से अभिहित (कथन) करके पुनः उसी का शब्दान्तर से कथन, जो निमित्त तथा निमित्ती में सम्भव होता है। निमित्त का उदाहरण यथा : योनेर्गर्भं निर्हण्यात्। तै.सं.5.6.9

हन्यादुप्यमानं च तै.प्रा. 7.3

यहाँ 'निष्पूर्व' को अन्वादेश कर 'निर्हण्यात्' में नकार का णकार किया गया है।

निमित्ती का उदाहरण यथा : 'अवर्णव्यवेतोऽपि' तै.प्रा. 7.5

यहाँ चकार से पूर्वसूत्र (तै.प्रा.7.2) को 'निष्पूर्व' को अन्वादेश कर 'निर्हण्यात्' में नकार का णकार किया गया है।

निमित्री का उदाहरण–

यथा : अग्रं पर्यणयत्। तै.सं.2.3.4

- अवर्णव्यवेतोऽपि। तै.प्रा.7.5

यहाँ 'अपि' शब्द से पूर्वसूत्र 'पारीपरिपरीप्रपूर्वः' तै.प्रा. 7.4 का अन्वादेश करके अकार का व्यवधान रहने पर भी 'पर्यणयत्' में नकार का णकार हुआ है।

- निमित्तस्य निमित्तिनो वा अन्त्यस्यान्वादेशो भवति। तै.प्रा. 1.58 पर त्रिभा.र.

विशेष[1] लौकिक व्याकरणों में अन्वादेश संज्ञा का लक्षण किया गया है।

अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रम्। पा.सू.2.4.32 पर वा.

विशेष[2] एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्वशब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमन्वादेशः। पा.सू. 2.4.32 पर काशिका।

विशेष[3] पूर्वोक्त प्रथम परिभाषा के स्पष्टीकरण में पतञ्जलि 'अन्वादेशे समानाधिकरणग्रहणं' इस कथन द्वारा समानाधिकरण में ही अन्वादेश को सीमित करते हैं।

यथा : *अनेन व्याकरणमधीतम्। एनं छन्दोऽध्यापय।*

अन्वादेशक अन्वादेशक को निर्दिष्ट करने वाला। च और अपि के द्वारा अन्वादेश का निर्देश किया जाता है।

यथा : चापीत्यन्वादेशकौ। तै.प्रा. 22.5

- हन्यादुप्यमानं च। तै.प्रा. 7.3

- अवर्णव्यवेतोऽपि। तै.प्रा. 7.5

विशेष लौकिक व्याकरण में अन्वादेशक के स्थान पर 'अन्वाकर्षक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।

अपवाद विशेष विधि। सीमित क्षेत्र तक प्रवृत्त होने वाला (विशेष) नियम। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य 'न्याय'।

- अपवादाः अल्पविषया विधयः। ऋ.प्रा. 1.53 पर उ.भा.

- न्यायैर्मिश्रानपवादान्प्रतीयात्। ऋ.प्रा. 1.53

अपाय लोप (वर्णगत उच्चारण-दोष)। विद्यमान वर्ण का उच्चारण-काल में सुनाई न पड़ना।

यथा : 'ऊनयीः' का उच्चारण करते समय 'यीः' का सुनाई न पड़ना। अपायो नाम सतोऽपकर्षः। ऋ.प्रा.14.1 पर उ.भा.

अपृक्त एक वर्ण वाला पद व्यञ्जन से असंयुक्त कार्यों को प्राप्त होता है।

यथा : *आ.* ददे। तै.सं. 1.1.9

- एकवर्णः पदमपृक्तः। तै.प्रा. 1.54

- ओते यन्ति। तै.सं. 1.4.33

- आद्यन्तवच्च। तै.प्रा. 1.55

- स एवादिरन्तश्च। वा.प्रा. 1.152

- अपृक्त इति व्यञ्जनेनासंयुत इत्यर्थः। तै.प्रा. 1.54 पर वै.मा.

द्र. ऋ.प्रा. 1.75, 11.3; च.अ. 1.72, 1.79, 4.113

तुल. अपृक्त एकाल्प्रत्ययः। पा.सू. 1.2.41

विशेष ' अपृक्त शब्द 'अ'पूर्वक सम्पर्क अर्थवाली 'पृच्'-धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है- न मिला हुआ। अर्थात् असंपृक्त।

अभिकृतिः सौ अक्षरों वाला अति छन्द।

यथा : देवो अग्निः स्विष्टकृत्। तुल. प्रै. पृ.124

कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संकृतिस्तथा।

षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते।।ऋ.प्रा.16.89

अभिघात उच्चारणावयवों का तिर्यक् गमन। इस स्थिति में स्वरित स्वर का उच्चारण होता है जो न कठोर होता है और न मृदु।

- उदात्तश्चानुदात्तश्च। आयामविश्रम्भाक्षेपैः। ऋ.प्रा. 3.1

- आयाममार्दवाभिघाताः। वा.प्रा. 1.31

अभिनिधान संहिता में व्यञ्जनवर्णों का पृथक्करण तथा अस्पष्ट (दबा कर) उच्चारण। स्पर्श, रेफरहित, अन्तस्थ, ऊष्मवर्णों से परे स्पर्शवर्ण हों तो उन वर्णों का संहिता में परवर्ती वर्णों का पृथक्-करण तथा पूर्व वर्ण को दबाकर (अस्पष्ट) स्वर, श्वास, नाद-रहित उच्चारण।

यथा : *अर्वाग् देवा अस्य।* ऋ.सं. 10.129.6

अयस्प् मयम् विचृतः। तै.सं. 4.2.5

उरुक्षयाय न कृधिः। तै.सं. 1.3.4

– अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम्। सन्धारणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम्। ऋ.प्रा. 6.17

– अघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिधानस्पर्शपरात्तस्य सस्थानः। तै.प्रा. 14.9

– अभिनिधीयत इति अभिनिधानः आरोपणीय इत्यर्थः। तै.प्रा. 14.9 पर त्रिभा.र.

अभिनिष्ठान विसर्जनीय। विसर्जनीय का एक प्राचीन नाम जो अभी प्रयोग में नहीं मिलता है।

यथा : *अग्निः।* अ.सं. 1.7.4

– विसर्जनीयोऽभिनिष्ठानः। च. अ. 1.42

द्र. विसर्जनीय।

अभिनिहित सन्धि पूर्वरूप सन्धिविशेष। पदान्तीय प्राकृत तथा वैकृत 'एकार' एवं 'ओकार' के पश्चात् पदादि 'अकार' का पूर्वरूप। एकाकार, लोप होना।

यथा : *सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने।* ऋ.सं. 1.94.11

दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने। ऋ.सं. 1.94.14

– अथाभिनिहितः सन्धिरेतैः प्राकृतवैकृतैः एकीभवति पाददिरकारस्तेऽत्र सन्धिजाः। ऋ.प्रा. 2.34

– लुप्यते त्वकार एकार ओकारपूर्वः। तै.प्रा. 11.1

– एदोद्भ्यां पूर्वमकारः। वा.प्रा. 4.62

– लुबन्यः। ऋ.तं. 83

– एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः। च.अ. 3.55

तुल. एङः पदान्तादति। पा.सू. 6.1.109

विशेष तै.प्रा., वा.प्रा. एवं ऋ.तं. में अभिनिहित संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है लेकिन इस सन्धि का विधान है।

अभिसारिणी त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में प्रथम दो चरण दश-दश अक्षरों के तथा अन्तिम दो चरण बारह-बारह अक्षरों के होते हैं।

यथा : *यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः।* ऋ.सं. 10.23.5

– वैराज। जागतैः पादैर्यो वाचेत्यभिसारिणी। ऋ.प्रा.16.66

अभ्यास द्विरुक्त या द्विरुच्चारित पद।

यथा : पटत् पटेति। द्रसत् द्रसेति। दोऽभ्यासे। ऋ.तं. 4.165

तुल. पूर्वोऽभ्यासः। पा.सू. 6.1.4

– अभ्यासः पुनः पुनः करणमावृत्तिः। पा.सू.1.3.1 पर काशिका।

विशेष ' प्रातिशाख्यों में 'अभ्यास' का प्रयोग ऋ.तं. 165 और च.अ. 2.91, 2.93 में पारिभाषिक अर्थ में तो किया गया है किन्तु इसका लक्षण नहीं किया गया है।

विशेष [2] पाणिनि 'द्विरुक्त' में प्रथम को अभ्यास मानते हैं।

अमृत विराट् शक्वरी। द्र. ताराड्

अम्बु विराट् विकृति। द्र. ताराड्

अम्बूकृत बन्दप्राय ओष्ठों से उच्चारण (दोष)। बन्दप्राय ओष्ठों से वर्णों का उच्चारण करने पर उच्चारण का स्पष्ट न होना।
– ओष्ठाभ्यामम्बूकृतमाह नदं दुष्टम्। ऋ.प्रा. 14.4

विशेष [1] बन्दप्राय ओष्ठों से उच्चारण करने पर मुख में लार (पानी) आ जाता है। इसलिए इसको अम्बूकृत कहा जाता है।

विशेष [2] अमरकोष 1.6.20 तथा लाट्यायन-श्रौतसूत्र 6.10.18 की व्याख्या में अम्बूकृत का अर्थ मुख से थूक के छींटे निकालते हुए बोलना माना गया है।

अम्भः विराट् आकृति। द्र. ताराड्

अयोगवाह विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुनासिक, यम तथा अनुस्वार। अकारादि वर्णों के साथ युक्त होकर उच्चारित वर्ण।

यथा : अः,ᳵ क, प,ᳶअं, प्रत्येक वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्णों का द्वित्वरूप

यथा : पलिक्कनी। ᳵक इति जिह्वामूलीयः, पॅ इत्युपाध्मानीयः अं इत्यनुस्वारः अः इति विसर्जनीयः हुँ इति नासिक्यः कुं खुं गुं घुं इति यमाः।

वा.प्रा. 8.19-24।

– अथायोगवाहाः। अः इति विसर्जनीयः। कᳵ इति जिह्वामूलीयः। पᳶ इत्युपध्मानीयः। हुमित्यनुनासिकः। अथ यमाः। कुं इति खुं इति गुं इति घुं इति यमाः। अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ। ऋ.तं. प्र.प्र. 2

– अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः। वा.प्रा. 8.18 पर उ.भा.।

तुल. प्रत्याहार-सूत्र 5, वा. 5 पर म. भा.

विशेष [1] ऋ.प्रा., तै. प्रा. तथा च.अ. में अयोगवाह-संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है।

विशेष [2] वा.प्रा. के व्याख्याकार अनन्तभट्ट ने अयोगवाह के स्थान पर 'योगवाह'-संज्ञा को अधिक समीचीन माना है। उनके अनुसार योगेन अर्थात् अकार आदि वर्णसमुदाय के साथ मिलकर ये अपना निर्वहण करते हैं।

"योगवहत्वं च इत्थम्। योगेन अकारादि-वर्ण-समुदायेन सहिताः सन्ति। आत्मानं च वहन्त इति योगवाहाः।" वा.प्रा. 8.18 पर अ. भा.।

इसके विपरीत ऋक्तन्त्रकार ने 'अ' से लेकर 'स' तक के समस्त वर्णों को योगवाह संज्ञा से अभिहित किया है।

यथा : अ इति आ इति इ इति ई इति उ इति ऊ इति ऋ इति ॠ इति ऌ इति ॡ इति ॡ इति-इति समानानि। ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि। आयाही-वोयीनाम् (1.1.9) गतिरन्त इति स्वराः। अथ व्यञ्जनानि। किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः। चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः। टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः। तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। इति स्पर्शाः अथान्तस्थाः। यिति रिति लिति इत्यन्तस्थाः। अथोष्माणो हिति शिति षिति, सिति योगवाहाः। ऋ.तं. प्र.प्र. 2

विशेष [3] पतञ्जलि के मतानुसार वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट

अयोगवाह का णत्व षत्व आदि प्रयोजन के लिए 'अट्', 'शर्' आदि प्रत्याहारों में उपदेश होना चाहिए।

अरिफित विसर्जनीय जो र्-प्राकृतिक न हो।

परा. विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदयः आकारम्। ऋ.प्रा. 2.24

कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः। वा.प्रा. 4.38

अर्धमात्रा मात्रा का आधा काल। एक मात्रा के उच्चारण में जितना काल लगता है, उससे आधे काल में उच्चरित होने वाले वर्ण अर्ध-मात्रिक होते हैं।

यथा : *स्वर-रहित व्यञ्जन-वाक्।* तै.सं. 1.3.9

स्वरभक्तिकर्हि, वनस्पते शतवल्शः। ऋ.सं. 5.74.10, ऋ.सं. 3.8.11

- इतरे च। ऋ.प्रा. 1.37

- व्यञ्जनमर्धमात्रा। वा.प्रा. 1.59

परा. स्वरयोरर्धमात्रा। ऋ.तं. 35

परा. द्राघीयसी सार्धमात्रा। ऋ.प्रा. 1.33

विशेष [1] नकुल की ध्वनि अर्धमात्रिक होती है।

- नकुलस्त्वर्धमात्रकम्। पा.शि. 49

ऋ.तं. 41 में अर्धमात्रा को 'अणु' शब्द से कहा गया है।

अर्धोना द्र. अणु[1]

अवग्रह विभाज्य (इङ्ग्य)पद का पूर्वपद। पदपाठ में विभाज्य समस्तपद (दो पद या प्रकृति-प्रत्यय) को पूर्वपद कहा जाता है।

यथा : पुरःऽहितम्। रत्नऽघातमम्। ऋ.सं.1.1.1

- तस्य पूर्वपदमवग्रहः। तै.प्रा. 1.49

- अवग्रहः पदान्तवत्। वा.प्रा. 1.153

– अवग्रहशब्देन सावग्रहस्य पदस्य पूर्वपदमभिधीयते। वा.प्रा. 1.148 पर उ.भा.

– अवग्रहो नानाग्रहः। ऋ.प्रा. 1.28 पर उ.भा.

अवधारक निश्चायक। सामान्य प्राप्त विधि में विशेष अर्थ का निश्चायक। यथा : *एव।*

– *ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्।* तै.प्रा. 9.5

– त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः। तै.प्रा. 22.6

– यावदवधारणे, तथावधारणे, मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे (अमरकोष)।

अवशंगम सन्धि पदान्त स्पर्श और पदादि व्यञ्जन में सन्धि का न होना।

यथा : *वषट्, ते=वषट् ते विष्णवास आ-कृणोमि।* ऋ.सं.7.99.7

स्पर्शाः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराण्यास्थापितानामवशंगमं तत्। ऋ.प्रा. 4.1

अवसान ऋचाओं का विरामस्थल। तीन पादात्मक ऋचाओं में यह अवसान (विराम) कहीं तो एक पाद के बाद और कहीं दो पाद के बाद होता है।

यथा : *दृतेरिव तेऽवृकमस्तुसख्यम्।* ऋ.सं.6.48.18, (ऋ.प्रा.18.46)

अग्निमीडे पुरोहितम्। ऋ.सं. 1.1.1, (ऋ.प्रा. 18.46)

विशेष ' चतुष्पदा ऋचाओं में सामान्यतया अवसान दो पादों के बाद में होता है। किन्तु कहीं एक पाद के बाद और कहीं तीन पादों के बाद में भी होता है।

यथा : *गायन्ति त्वा गायत्रिणः।* ऋ.सं.1.10.1,

अधीन्वन्त्र सप्ततिं च सप्त च। ऋ.सं. 10.93.15,

एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वम्। ऋ.सं.10.9.3.11

- त्रिभिः समस्तैरवरैः परैर्वा। ऋ.प्रा.18.48
- द्वाभ्यामवस्येत् त्रिपदासु पूर्वपादेन पश्चात्क्वादन्यथैतत्। ऋ.प्रा. 18.46
- मध्येऽवसानं तु चतुष्पदानाम्। ऋ.प्रा. 18.47

तुल. विरामोऽवसानम्। पा.सू.1.4.110

- वर्णानामभावः अवसानसंज्ञः स्यात्। पा.सू. 1.4.110 पर सि.कौ.

विशेष प्रातिशाख्यों में अवसान-संज्ञा का लक्षण तो नहीं किया गया है किन्तु ऋचान्तर्गत विरामस्थल के अर्थ में इसका सर्वत्र प्रयोग किया गया है।

अवसित पदान्तीय वर्ण (व्यञ्जन)।

यथा : अवसितं पदान्वर्ति व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 21.3 पर त्रिभा.र.

- अवसीयतेऽत्रेत्यवसितं विरामावधिभूतं व्यञ्जनम्।

तै.प्रा. 21.3 पर वै.भा.

यथा : *ऊर्क्।* कृ.य. 1.2. 2

वषट्। कृ.य. 2.2.12

हविः। कृ.य. 1.2.4

परा. अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्। ऋ.प्रा. 1.63

अवसितं पूर्वस्य। तै.प्रा. 21.3

साक्षरः पदान्तोऽवसितः। ऋ.तं. 18

तुल. अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः। पा.सू. 8.4.57

अविलम्बित अमन्द। अविलम्बित वृत्ति में उच्चारण। क्रमविक्रम-सम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्। तै.प्रा. 23.24

अव्यक्त प्रयत्नन्यूनता से उच्चारण। किसी ध्वनि का अपेक्षित प्रयत्न द्वारा उच्चारण न करके उस में न्यून प्रयत्न लगाकर उच्चारण करना अव्यक्त उच्चारण-दोष है।

– नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेव वर्णानुदीरयेत्। तै.प्रा.17.8

अव्यय अविकार्य, अविभक्तिक। तीनों लिङ्गों, सभी वचनों एवं सभी विभक्तियों में जो अपरिवर्तनीय रहे।

यथा : स्वर, अन्तर्, प्रातर् आदि।

– अन्तः पुनः प्रातः सनुतः स्वरव्ययानाम्। च.अ. 2.48

– अव्ययानां। च.अ. 4.71

तुल. सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।
द्र. पा.सू. 1.1.37 पर काशिका।

– स्वरादि निपातमव्ययम्। पा.सू. 1.1.37

अष्टिः चौसठ अक्षरों वाला अति छन्द।

यथा : *त्रिक्रद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मः।* ऋ.सं.2.22

– उत्तराष्टिश्चतुष्षष्टिः। ऋ.प्रा. 16.83

असंहित पदपाठ का एक भेद। पदपाठ में पूर्वपदान्त के साथ उत्तरपदादि में संहिता-रहित उच्चारण।

यथा : *इषे त्वा ऊर्जे त्वा।* वा.सं.1.1

– *पदविच्छेदोऽसंहितः।* वा.प्रा. 1.156

अस्थ अवर्ण में स्थित।

यथा : अ, आ, आ3। अस्थनामिनी सन्ध्यम्। ऋ.तं. 94

अस्थाद् यम्। ऋ.तं. 117

विशेष 'अस्थ' यद्यपि पारिभाषिक शब्द है किन्तु इसका लक्षण प्रातिशाख्यों में सूत्रमुख से नहीं किया गया है। ऋ.तं. के उपर्युक्त दोनों सूत्रों की टीकाओं में आए उदाहरणों से स्पष्ट है कि अस्थ अ, आ, आ3 (प्लुत) का बोधक है। इसकी सम्पुष्टि के.वी. अभ्यङ्कर और ऋ.तं. के सम्पादक डा. सूर्यकान्त ने भी की है।

अस्थित उच्चारणावयवों का अल्पकालिक स्पर्श। वे वर्ण जिनके उच्चारण में जिह्वा, उच्चारणस्थान को आश्रय बनाकर मध्य में नहीं ठहरती।

यथा : स्पृष्ट वर्ण।

- स्पृष्टमस्थितम्। ऋ.प्रा. 13.9
- यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तत् अस्थितम् इत्युच्यते। ऋ.प्रा.13.9 पर उ.भा.

अस्पृष्ट प्रदान। (आभ्यन्तर प्रयत्न या करण-विशेष) दो उच्चारण अवयवों का स्पर्शाभाव, जो स्वर, अनुस्वार और ऊष्म वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न होता है।

स्वारोऽनुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्। ऋ.प्रा. 13.11

तुल. अचोऽस्पृष्टाः गणस्त्वीषन्नमस्पृष्टा शलः स्मृताः। शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः। पा. शि. 38

विशेष ' तै.प्रा. 1.19 पर वै.भा. में रेफ के निर्वचन-क्रम में कहा गया है कि रेफ का उच्चारण वस्त्रादि को फाड़ने से उत्पन्न हुई ध्वनि के समान होता है। इसलिए इसको 'रेफ' कहा जाता है। रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चार्यत इति रेफः।

अस्व असवर्ण। ऋ.तं. में असवर्ण के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द।

यथा : होत्रत्र। रमृस्थमस्वे। ऋ.तं. 107

तुल. इवर्णादेः अस्वे स्वरे यवरल। हेम. 1.2.21

अस्वे। शाकाटायन 1.2.73; पा.सू. 6.1.73

अस्वयंदृष्ट परोक्ष (लिट्)। ऋ.सं. में 'परोक्ष लिट्' के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द।

यथा : संचकार। संचस्कार।

कृ चकारमस्वयंदृष्टे। ऋ.तं. 191 तुल. पा.सू. 3.2.115

आ

आकृतिः अट्ठासी अक्षरों वाला कृतिःछन्द या कृतिच्छन्द।

यथा : *यदि ते मात्रा।*

– *प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः।* ऋ.प्रा. 6.8

आक्षेप द्र. अभिघात।

आख्यात क्रिया। भाव या क्रिया का अभिधान करने वाला।

यथा : गच्छति, पचति तदाख्यातं येन भावं स धातुः।

ऋ.प्रा. 12.19

क्रियावाचकमाख्यातम्। ऋ.प्रा.12.25; वा.प्रा. 8.55; च.अ. 31.1

तुल. भावप्रधानमाख्यातम्। निरुक्त 1.1

विशेष[1] आख्यात शब्द 'चक्षिञ्' या 'ख्या'-धातु से निष्पन्न है। आख्यात उसे कहते हैं जिसके द्वारा लिङ्ग (स्त्री/पुं./ नपुंसकादि) रूपी द्रव्य या सत्त्व क्रिया की अपेक्षा गौण रूप से प्रकट होते हैं।

विशेष[2] कर्ता, कर्म और क्रिया (भाव) का बोध कराने के कारण इसको आख्यात कहते हैं। आख्यायन्ते स्त्रीपुन्नपुंसकानि वर्तमानेत्याख्यातम्। निरुक्त 1.1 पर दुर्गाचार्य।

आगम सन्धि। अतिरिक्त वर्णों की श्रुति। यह आगम पदादि, पदमध्य अथवा पदान्त होता है जो उस पद का अवयव होता है।

यथा : *प्राङ् सोमः = प्राङ्क् सोमः।* वा.सं. 10.31

– अन्यत्र विद्यमानस्तु यो वर्णश्श्रूयतेऽधिकः।

आगम्यमान-तुल्यत्वात् स आगम इति स्मृतः।।

तै.प्रा. 1.23 पर वै.भा.

च.अ. 3.78, तै.प्रा. 1.23

– तेनेत्यागमः। वा.प्रा. 1.137

– अन्तरेण पर्वणि। वा.प्रा. 1.138

परा. ऋ.प्रा. व.विवृ. 5

विशेष [1] प्राचीन व्याकरण में आगम के अर्थ में 'उपजन' का प्रयोग मिलता है जिसकी व्युत्पत्ति 'उपजायते असौ उपजनः' है। ऋ.प्रा. 4.84

यथा : *'महि-क्षेत्रं पुरुश्चन्द्रं विविद्वान्।* ऋ.सं. 3.31.15

यहाँ 'पुरुश्चन्द्रं' में 'श्' कार आगम को उपजन माना गया है।

– पुरु पृथ्वधि पूर्वेषु शकार उपजायते। ऋ.प्रा. 4.84

तुल. उपजन आगमः। शिवसूत्र 5 पर म.भा।

अथापि वर्णोपजनः आस्यद् द्वारो मरुजेति। नि. 2.1।

विशेष [2] ऋ.तं. में आगम के लिए 'व्यवधान' शब्द का प्रयोग मिलता है।

यथा : ऋतूँ रनू*।* सा.वे. 1.229

व्यवधानोऽन्त्यविकारे। ऋ.तं. 185

आदेश उपदेश-विशेष। किसी वर्ण या पद के स्थान पर विधीयमान कार्य।

यथा : *षट्+दशम् = षोडशम्।* वा.सं. 3.29.1

इस उदाहरण में 'षट्' का 'षो' तथा 'दश' का 'डश' आदेश हुआ है।

- न आदेशः अनादेशः तस्मिन् उपदेशाभावे इत्यर्थः। तै.प्रा. 2.20 पर त्रिभा.र.
- यत्रोदात्तादीनां स्वराणां सन्धावादेशो न क्रियते तत्राविकारः प्रत्येतव्यः। वा.प्रा. 4.131 पर उ.भा.
- षट्-पुरसोरुकारोऽन्तस्य दशदाशयोरादेशश्च मूर्धन्यः। च.अ. 1.63

तुल. स्थानीवदादेशोऽनल्-विधौ। पा.सू. 1.1.56

- आदिश्यते यः स आदेशः। पा.सू.1.1.56 पर म.भा.

आनुष्टुभ त्रैष्टुभ ऐसा प्रगाथ छन्द जिसके आदि में अनुष्टुभ् तथा अन्त में त्रिष्टुभ् प्रगाथ हो।

यथा : *यदद्य वां नासत्या:'* ऋ.सं. 8.9.9-10

- यदद्य वामनुष्टुप्च त्रिष्टुप्चैवोपदिश्यते। ऋ.प्रा.18.24

आनुष्टुभ प्रगाथ इस छन्द में तीन ऋचाएं होती हैं, एक अनुष्टुभ् एवं दो गायत्री की।

यथा : *सपूर्व्यो महानाम्।* ऋ.सं 8.63.1-3

- अनुष्टुब्द्वे च, गायत्र्यावेष। आनुष्टुभः स्मृतः। ऋ.प्रा.18.3

आनुष्टुभ पाङ्क्त ऐसा प्रगाथ जिसके पूर्व में अनुष्टुभ् तथा अन्त में पङ्क्ति छन्द हो।

यथा : *अग्निं वः पूर्व्यं गिराः।* ऋ.सं. 8.31.14-15

- अग्निं वः पूर्व्यमित्येषोऽनुष्टुप्-पङ्क्तिरेव च। ऋ.प्रा. 18.22

आन्तर्य अतिशय सँनिकर्ष। अतिशय सन्निधि। यह आन्तर्य स्थानकृत्, करणकृत् और अनुप्रदानकृत् होता है।

यथा : *तव अयम् = तवायम्* (स्थान एवं करण)।

वाक् हरिः = *वाग्घरिः* (अनुप्रदान)।

– आन्तर्येण वृत्तिः। च.अ. 1.95

तुल. अनेकविधमान्तर्यं स्थानार्थगुणप्रमाणकृतम्। परिभाषेन्दुशेखर, पृ. 13

द्र. स्थानेऽन्तरतमः। पा. सू. 1.1.50 पर काशिका।

विशेष ऋ.प्रा. एवं वा.प्रा. में 'आन्तर्य' के लिए यथाक्रम 'अन्तर' और 'आसन्न' शब्द प्रयुक्त हैं।

– असावमुमिति तद्भावमुक्तं यथान्तरम्। ऋ.प्रा. 1.56

– विकारी यथासन्नम्। वा.प्रा. 1.142

आन्पद 'आन्' से अन्त होने वाला पद या पद्य (पदावयव)। सन्धिकाल में आकारोपध न् का लोप तथा उपधा-स्वर सानुनासिक होता है यदि स्वर पर में हो।

यथा : *महान् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।* ऋ.सं. 6.19.1

– नकार आकारोपधः पद्यान्तोऽपि स्वरोदयः लुप्यते। ऋ.प्रा.4.65

– षत्वणत्वोपाचार-दीर्घदुत्वलोपान्पदानां चर्चा-परिहारयोः समापत्तिः। च.अ. 4.74

– घाद् ग्रा। आ रक्तः। ऋ.तं. 113, 114

तुल. दीर्घादटि समानपादे। पा.सू. 8.3.9

आतो अटि नित्यम्। पा.सू. 8.3.3

आन्पदवृत्ति द्र. आन्पद

आपः विराट् अभिकृति। द्र. ताराड्

आम्नाय वेद (वर्णरूप)।

– स्याद् वाम्नायधर्मित्वात् छन्दसि नियमः। आम्नायो वेदः। वा.प्रा. 1.4 पर उ.भा.

आम्रेडित द्विरुक्त पद।

यथा : *यज्ञायज्ञा वो अग्नये।* वा.सं. 27.42

– द्विरुक्तं आम्रेडितं पदम्। वा.प्रा. 1.146

तुल. तस्य परमाम्रेडितम्। पा.सू 8.1.2

विशेष पाणिनि के अनुसार द्विरुक्त पद का पर-पद आम्रेडित कहलाता है। तै.प्रा. के अनुसार करण के पाँच भेद हैं- अनुप्रदान, संसर्ग, स्थान, करणविन्यय तथा परीमाण। अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्ययात्।

जायते वर्णवैशेष्यम् परीमाणाच्च पञ्चमात्। तै.प्रा.23.2

आय आगम (उच्चारण-दोष)। उच्चारण में अतिरिक्त वर्ण का आ जाना (वर्णगत दोष)।

यथा : '*ह्वयामि*' का उच्चारण करते समय इसके पूर्व में एक अतिरिक्त ध्वनि (अनुनाद) सुनाई पड़ती है।

– आयो नामासतो वर्णस्योपजनः। ऋ.प्रा.14.1 पर उ.भा.

आयाम उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन। इस स्थिति में उदात्त स्वर का उच्चारण होता है, जो कठोर होता है।

– उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।

आयाम-विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। ऋ.प्रा. 3.1

– आयाममार्दवाभिघाताः। वा.प्रा. 1.31

– आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य।

तै.प्रा.22.9

तुल. आयामो दारुण्यमणुता। पा.सू. 1.2.29 पर म.भा.

आस्तार पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद। इस छन्द में आदि के दोनों चरणों (प्रथम एवं द्वितीय) में आठ-आठ अक्षर तथा शेष चरणों (तृतीय एवं चतुर्थ) में बारह-बारह अक्षर होते हैं।

यथा : *अग्निं न स्ववृक्तिभिः।* ऋ.सं. 10.21.1

– आस्तारपङ्क्तिरादितः ऋ.प्रा. 16.59

आस्थापित द्र. अभिनिधान

इ

इङ्ग्य विभाज्य पद, सावग्रह पद। पदपाठ में 'इङ्ग्य' को अवग्रह-सहित विभाजित करके दिखलाया जाता है।

यथा : *प्रऽयन्तः।* ऋ.प्रा. 1.102 पर उ.भा.

– इङ्ग्य-शब्देन सावग्रहं पदमुच्यते। ऋ.प्रा. 1.102

– इङ्ग्यमिति विभागवत् पदस्य संज्ञा। इङ्ग्यते विभागेन चाल्यते इति इङ्ग्यम्। तै.प्रा. 1.48 पर वै.भा.

विशेष तै.प्रा. में समस्त इङ्ग्य पद के पूर्वपद का अवग्रह होता है।

यथा : *'उपायवः' तै.सं. 1.1.1* में 'उपपद'।

– तस्य पूर्वपदमवग्रहः। तै.प्रा. 1.49

इतिकरण 'इति' के साथ पद-विशेषों का उच्चारण। शाकल और वाष्कल शाखाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य शाखाओं में अभि, उत्, परा, निः, वि, उप, सम्, प्रति, प्र, नि, अधि, अति, अप, आ, दुः, सु, अपि, परि, अव और अनु, इन उपसर्गों का 'इति' के साथ उच्चारण।

– अभ्युत्परा निर्व्युप सं प्रति प्रन्यध्यत्यपा दुःस्वपि पर्यवानु।

ऋ.प्रा. 15.17

इति वर्णनिर्देशक। वर्णों का निर्देश इति से किया जाता है।

यथा : अ इति, किति, खिति।

निर्देश इतिना। वा.प्रा. 1.36

रकार–निर्देशक; एफ 'र' अक्षर का निर्देशक है।

यथा : *रेफ। आशीर्पदया।* कृ.य. 6.2.9

– एफस्तु रस्य। तै.प्रा.1.19

– र एफेन च। वा.प्रा. 1.39

– रिति रेफात्। ऋ.तं. प्र.प्र. 3

तुल. रादिफः। पा.सू. 3.3.108 पर वार्तिक 3.4

ई

ईषत् स्पृष्ट प्रदान (आभ्यन्तर प्रयत्न या करण–विशेष)।
उच्चारण–अवयवों का ईषत् (थोड़ा) स्पर्श।

यथा : अन्तःस्थ वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न।

– ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। च.अ. 1.30

– दुस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्। ऋ.प्रा. 13.10

– दुस्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3

तुल पा.सू. 1.1.19 पर सि.कौ.; पा.शि. 381

विशेष [1] ऋ.प्रा. और ऋ.तं. में ईषत् स्पृष्ट के लिए दुष्पृष्ट शब्द प्रयुक्त है जिसे भाष्यों में दुःस्पृष्ट भी कहा गया है।

विशेष [2] पाणिनीय–शिक्षा में 'ळ' ध्वनि को दुःस्पृष्ट कहा गया है जो 'ल' के उच्चारण में 'क' 'ख' के अपूर्ण स्पर्श की स्थिति में उत्पन्न होता है।

दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो। पा.शि. 5

उ

उच्च द्र. उदात्त

उच्चश्रुति द्र. प्रचय

उत् द्र. उदात्त

उत्-सन्धि उदात्तवान् सन्धि।

यथा : *आ इन्द्र सानसिम=एन्द्र सानसिम्।* सा.सं. 1.129

– वान्त्सन्धिः। ऋ.तं. 52

उत्कृति एक सौ चार अक्षरों वाला कृतिच्छन्द।

यथा : *सर्वस्येत्युत्कृतिस्तत्र०।* तु.प्रै. पृ. 124-125

– कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संकृतिस्तथा।
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते।।

ऋ.प्रा.16.89

उत्तम [1] क-आदि वर्गों के पञ्चमाक्षर।

यथा : ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

– उत्तमानुत्तमेषूदयेषु। ऋ.प्रा. 4.3

– प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः। तै.प्रा. 1.11

– आमलभावात्पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः। तै.प्रा.-5.31

– उत्तमाः अनुनासिकाः। च.अ. 1.1

उत्तम [2] वर्ण के तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमाक्षर।

उत्तमा घोषाः। ऋ.तं. 14।

उत्तम [3] वाणी का एक स्थान। वाणी का तार-स्वर। वाणी का शिरोगत स्थान, जिसको तै.प्रा. में 'तार' शब्द से भी कहा गया है।

– *त्रीणि मन्द्रमध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः।*

ऋ.प्रा.13.42

- शिरसि तारम्। तै.प्रा. 23.12
- यत्र शिरसि स्थाने प्रयोग उपलभ्यते तत् 'तारं' नाम सप्तमं वाचस्स्थानम्। तै.प्रा. 23.12 पर त्रिभा.र.

उत्तर पर । बाद में आने वाला वर्ण या पद 'पर' कहलाता है।

पर इत्युत्तरः। तै.प्रा. 1.30

- उत्तराष्टिश्चतुष्षष्टिः। ऋ.प्रा. 16.83

परा. च.अ. 4.123

तुल. परश्च। पा.सू. 3.1.2

उत्सर्ग द्र. न्याय।

उदकम् विराट् उत्कृति। द्र. ताराड्।

उदय अव्यवहित परवर्ती स्वर, वर्ण या पद।

यथा : *सरस्वती ततीह धातेवेऽकः।* वा.सं. 38.5

यहाँ 'सरस्वती' में उदात्त 'व' के अव्यवहित परवर्ती 'ती' उदात्तोदय है और स्वरित 'र' का अव्यवहित 'स' - स्वरितोदय है। उदयशब्दः उत्तरपर्यायः।

तै.प्रा. 2.47 पर त्रिभा.र.

- उदेति उपरि आगच्छतीत्युदयः परः।

तै.प्रा. 2.47 पर वै.भा.

विशेष प्रातिशाख्यों में 'उदय' संज्ञा का विधान तो नहीं किया गया है, किन्तु इसका प्रयोग अव्यवहित परवर्ती वर्ण के अर्थ में अनेकशः किया गया है।

- इकारोदय एकारमकारः सोदयः। ऋ.प्रा. 2.16
- प्राच्यपञ्चाल-उपधानिभोदयाः शाकल्यस्य स्थविरस्य।

ऋ.प्रा.2.81

- उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम्। तै.प्रा. 2.47
- नोदात्तस्वरितोदयम्। वा.प्रा. 4.143
- अभिनिहितप्राश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानाम्।

  च.अ.3.65
- चलमोदयमेके। ऋ.तं. 175

तुल. नोदात्तस्वरितोदयं गार्ग्य-काश्यप-गालवानाम्। पा.सू. 8.4.67

उदात्त ताल्वादि उच्चस्थान से उच्चार्यमाण स्वर।

यथा : *सः।* कृ.य. 1.1.2

- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः आयाम-विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। ऋ.प्रा. 3.1
- उच्चैरुदात्तः। तै.प्रा. 1.38; वा.प्रा. 1.108
- उदात्तमुत्। ऋ.तं. 51
- समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्। च.अ. 1.14

तुल. उच्चैरुदात्तः। पा.सू. 1.2.29

विशेष [1] उदात्त स्वर के उच्चारण में वायु के कारण गात्रों का ऊर्ध्वगमन (आयाम), ध्वनि की कठोरता (दारुण्य) तथा गलबिल की संवृतता (खस्य अणुता) ये स्थितियाँ बनती हैं।

- आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम् तेन य उच्यते स उदात्तः। ऋ.प्रा. 3.1 पर उ.भा.
- अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि।

  तै.प्रा. 22.10

-

समानस्थाने मूर्ध्नि आसन्ने उपरिभागे जातेन, प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति।

तै.प्रा. 1.38 पर वै.भा.

तुल. पा.सू. 1.2.29 पर म.भा.

विशेष ऋ.तं. में उदात्त के लिए 'उत्' एवं 'उच्च' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

उदात्तपूर्व स्वरित जिसके पूर्व में उदात्त हो।

यथा : *इन्द्रः होता।*

– उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्। ऋ.प्रा. 3.7

– उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः। तै.प्रा. 20.7

उदात्ततर [1] उदात्त स्वर के अव्यवहित पर में ह्रस्व स्वरित का पूर्वार्ध (उदात्त)।

यथा : *त्र्यम्बकम्।* ऋ.सं. 7.59.12

– तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव च.। ऋ.प्रा. 3.4

– तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धम् ह्रस्वस्य। तै.प्रा. 1.41

उदात्ततर [2] स्वरित की आधी मात्रा अथवा आधा भाग का उदात्ततर (उच्चतर) उच्चरित होना।

यथा : त्र्यम्बकम् त्रि अम्बकम् यजामहे। ऋ.सं.7.59.12

– तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। ऋ.प्रा.3.4

उदात्तमय द्र. प्रचय

उदात्तश्रुति द्र. प्रचय

उदात्तसम उदात्त-स्वर के अव्यवहित पर में ह्रस्व स्वरित का उत्तरार्ध (अनुदात्त)।

यथा : *प्र उ ग मुक्थम्।* कृ.य. 4.4.9

– उदात्तसमश्शेषः। तै.प्रा. 1.42

उद्ग्राहपदवृत्ति-सन्धि उद्ग्राह सन्धि की स्थिति में पदादि दीर्घस्वर होने पर उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि होती है।

यथा : *क ईषते तुज्यते।* ऋ.सं. 1.84.17

दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तयः। ऋ.प्रा. 2.30

उद्ग्राह सन्धि पदादि कोई भी स्वर होने पर पदान्त 'ए', 'ओ' का 'अ' तथा 'ऐ' और 'औ' का 'आ' में परिवर्त्तित होना।

यथा : *अग्ने+इन्द्रः=अग्न इन्द्रवरुणमित्रदेवाः।* ऋ.सं. 5.46.2

वायो उक्थेभिः=*वाय उक्थेभिर्जरन्ते।* ऋ.सं. 1.2.2

अनुऽएतवै+उँ=*सूर्याय पन्थामन्वेतवाउ।* ऋ.सं.1.24.8

उभो+उँ। *नूनम् उभा उनूनम्।* ऋ.सं. 10.106.1

– पूर्वौ चोपोत्तमात्स्वरौ। ऋ.प्रा. 2.28

– उत्तमौ च द्वौ स्वरौ। ऋ.प्रा. 2.25

तुल. एचोऽयवायावः। पा.सू. 6.1.78

– लोपो व्योर्वलि। पा.सू. 6.1.66

विशेष ' ऋ.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में 'उद्ग्राह-सन्धि' इस संज्ञा का प्रयोग नहीं है, पर इसका विधान प्रक्रिया-भेद से किया गया है। इन प्रातिशाख्यों में ए, ऐ, ओ, औ का क्रमशः अय्, आय्, अव् आव् हो जाता है तथा सन्धि की अपेक्षा के अनुसार 'य्' तथा 'व्' का लोप भी हो जाता है।

एकारोऽयम्। तै.प्रा. 9.11, ऐकार आयम्। तै.प्रा. 9.14, 12, 13, 15; वा.प्रा. 4.47; ऋ.प्रा. 2.25, 28, 31; च.अ. 3.40; ऋ.तं. 111 सूत्रों के लिए द्रष्टव्य भुग्न सन्धि।

उद्ग्राहवत् सन्धि पदादि 'ऋकार' रहने पर पदान्त 'अकार' और 'आकार' का आकार में परिवर्तित होना।

यथा : *प्र.। ऋभुभ्यो। दूतमिव। प्र ऋभुभ्यो दूतमिव।*

ऋ.सं. 4.33.1

आऽप्रुषायन्। मधुना। ऋतस्य=आ प्रुषायन्मधुन ऋतस्य।

ऋ.सं. 10.68.4

– ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत्।

ऋ.प्रा.2.32

उद्देश उपदिष्ट वर्णों का संज्ञाकरण।

यथा : *अ इति, आ इति* । समान, सन्ध्यक्षर, व्यञ्जन इत्यादि का संज्ञाकरण।

– एवमुत्पन्नानां वर्णानामुपदेशोद्देशाः। उद्देशे संज्ञाकरणम्। उपदेशे प्रत्याहारः। ऋ.तं. प्र.प्र.1.1

तुल. गुणैः प्रापणमुद्देशः। पा.सू. 1.3.2 पर म.भा.

उपजगती त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में कोई भी दो चरण दश-दश अक्षरों के एवं अन्य दो चरण बारह-बारह अक्षरों के होते हैं।

यथा : *सो चिन्नु वृष्टिर्युथ्या स्वा सचा।* ऋ.सं.1.164.14

– द्वौ चेत्तु द्वादशाक्षरौ, प्रायस्योपजगत्येषा परस्यास्य तु सा त्रिष्टुप्। ऋ.प्रा.16.65

उपजन द्र. आगम

उपदेश द्र. वर्णसमाम्नाय

उपधा अन्तिम से अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण।

यथा : *महान् इन्द्रः।* वा.सं. 7.39

– अन्त्याद्वर्णात् पूर्व उपधा। वा.प्रा. 1.35

– वर्णादन्त्यात्पूर्व उपधा। च.अ. 1.92

उपध्मानीय प, फ। पकार, फकार से अव्यवहित-पूर्व ओष्ठस्थान के समीप से उत्पन्न अर्ध-विसर्ग सदृश ध्वनि-विशेष।

यथा : *य पाप्मना।* तै.सं. 2.1.3

शुनं न फालाः। तै.सं. 4.2.5

- उवो प् पा ओष्ठे। वा. प्रा. 1.70
- प इत्युपध्मानीयः। वा.प्रा. 8.20 / ऋ.तं. प्र.प्र. 2
- उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः। ऋ.प्रा. 1.10
- शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्। ऋ.प्रा. 1.47
- ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्। च.अ. 1.25

विशेष उपध्मानीय शब्द 'उप' पूर्वक 'ध्मा' (शब्द करना) धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय करने से बना है, जिसका व्युपत्तिलभ्य अर्थ ओष्ठ-समीप से उच्चारित ध्वनि-विशेष है।

- उपध्मायते शब्दायते इति, उप समीपे ध्मायते शब्द्यते इति वा (का.व्या.1 पर टीका)।
- उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात्।
  तै.प्रा. 1.18 पर वै.भा.
- सन्ध्यक्षरेषु वर्णेषु वर्णान्तम् ओष्ठ्यमुक्ष्येत, उपध्मानीय-मुकारो व पवर्गः तथा मतः। च.अ. 125 (भा.)

विशेष वस्तुतः उपध्मानीय ध्वनि विसर्ग का ही परिवर्तित रूप है। जब विसर्ग के पश्चात् पदादि 'प, फ' वर्ण आते हैं तब 'विसर्ग' अर्ध-विसर्ग सदृश उपध्मानीय ध्वनि में परिणत हो जाता है। अधिसंख्य ग्रन्थों में उपध्मानीय ध्वनि को प चिह्न से दर्शाया गया है। संभवतः भिन्न-भिन्न समय पर

द्र. गजकुम्भाकृतिवर्ण उपध्मानीयसंज्ञो भवति।

का.व्या. 1.1.18 पर दुर्गासिंह

उपपद तिङ्-भिन्न पद, जो पद के समीप हो।

यथा : *वृक्षाँ वनानीति वकारे।* च.अ. 2.28

यहाँ 'वनानि' उपपद है।

– च वाह अह एव एतानि च प्रभृतीनि यान्युपपदानि उक्तानि आख्यातस्य विकाराणि।

वा.प्रा. 6.23 पर उ.भा.

तुल. उपपदमतिङ्। पा.सू. 2.2.19

– तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्। पा.सू. 3.1.92

– उपोच्चारितं पदमुपपदम्। पा.सू. 3.1.92, (वा. 2) पर कैयट

उपब्दिमत् चतुर्थ वाचस्थान। इस वाचस्थानीय प्रयत्नों द्वारा उच्चारित शब्दों की श्रुति श्रोता को होती है परन्तु उसे स्वर-वर्ण और व्यञ्जन-वर्णों का भेदज्ञान नहीं होता है।

सशब्दमुपब्दिमत्। तै.प्रा. 23.1

उपमा सोलह अक्षरों का छन्द। द्र. मा।

उपरिष्टाद् बृहती बृहती छन्द का एक भेद। इसमें अन्तिम पाद बारह अक्षरों का, शेष तीन पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं।

यथा : *न तमं हो न दुरितम्।* ऋ.सं.10.126.1

– उपरिष्टाद् बृहत्यन्त्ये। ऋ.प्रा.16.46

उपलब्धि निमद, उपलब्धिर्निमदः। तै.प्रा. 23.8

द्र. निमद

उपसंहार समीप ले आना, उपश्लेष (संश्लेष-विशेष)। स्वरों के उच्चारण में करणों का उच्चारण-स्थान के समीप पहुँचना लेकिन स्पर्श न करना।

- स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत् स्थानम्। तै.प्रा. 2.31
- यदुपसंहरति तत् करणम्। तै.प्रा. 2.32

उपसर्ग प्र. परा आदि। नाम और आख्यात के साथ संयुक्त होकर अर्थविशेष को व्यक्त करने वाला। इनकी संख्या बीस या बाईस होती है।

यथा : प्र, अभि, आ, परा, निः, दुः, अनु, वि, उप, अप, सम्, परि, प्रति, नि, अति, अधि, सु, उत्, अव्, अपि, निस् और दुस्।

- प्राभ्या परा निर्दुरनु, व्युपाप सं परि प्रति न्यत्यधि सूदवपि।
- उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम्।
  ऋ.प्रा. 12.20
- उपसर्गो विशेषकृत्। ऋ.प्रा. 12.25; वा.प्रा. 8.55
- आप्रावोपाभ्यधि प्रति परिविनीत्युपसर्गाः। तै.प्रा. 1.15

द्र. च.अ. 1.1

तुल. उपसर्गाः क्रियायोगे। पा.सू. 2.2.18

विशेष ' उपसर्ग शब्द 'उप' पूर्वक 'सृज्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका कार्य नाम और आख्यात के अर्थ-विशेष का सृजन करना है।

- आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीति अवर्गाः।
  निरुक्त-1

विशेष [1] निपात भी वाचक और द्योतक होता है।

विशेष [2] व्याकरण में निपात को अव्यय माना गया है जिसका लिङ्ग, वचन, कारक आदि नहीं होते हैं-स्वरादिनिपातमव्ययम्।

पा.सू.1.1.37

विशेष [3] उपसर्ग अर्थवाचक के साथ-साथ अर्थद्योतक भी है।

विशेष [4] शाकटायन के मतानुसार उपसर्ग धातु से अलग होने पर निरर्थक होते हैं, परन्तु गार्ग्य के मतानुसार धातु से अलग होने पर भी ये सार्थक होते हैं।

– न नीर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतकाः भवन्ति, उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमं तं नामाख्यातयोरर्थ-विकरणम्।

निरुक्तम् 1.8

उपसृष्ट उपसर्ग

– तेनैवोपसृष्टेऽपि। च.अ. 4.36 द्र. उपसर्ग।

उपस्थित 'इति' युक्त पद। पदपाठ में 'इति' से युक्त पद 'उपस्थित'-संज्ञक होता है।

यथा : *बाहू इति।* ऋ.सं.प.पा. 1.95.7

– उपस्थितं सेति करणम्। ऋ.प्रा. 29

उपांशु करण-भिन्न किन्तु करण के समान (साक्षात् प्रयत्न रूप न होकर) वायु-संस्पर्श के अभाव में जहाँ शब्द या ध्वनि नहीं है और जहाँ मनःसंकल्प का भी अभाव है, ऐसा वाचस्थान 'उपांशु' कहलाता है।

– करणवदशब्दममनःप्रयोगमुपांशुः। तै.प्रा. 23.6

– करणवत् करणव्यापारसंयुक्तं, अशब्दं शब्दरहितमित्येतावत्-उपांशुस्थानलक्षणम्। तै.प्रा. 23.6 पर वै.भा.

उपाचरित सन्धि विसर्जनीय का 'स्' अथवा 'ष्' होना।

यथा : *अथो यूयं स्थ निष्कृतिः।* ऋ.सं. 10.97.9

यस्पतिर्वार्वाणाम्। ऋ.सं. 10.24.3

– यथादिष्टं नामिपूर्वं सकारं सकारमन्योऽरिफितः ककारे।
पकारे च प्रत्ययेऽन्तःपदं तु सर्वत्रैवोपाचरितः स सन्धिः।
ऋ.प्रा. 4.41

– षत्वणत्वोपाचारदीर्घटुत्व-लोपान्पदानां चर्चा-परिहारयोः समापत्तिः। च.अ. 4.47

तुल. विसर्जनीयस्य सः। पा.सू. 8.3.34

विशेष च.अ. में उपाचरित शब्द के लिए 'उपाचार' शब्द गृहीत है जब कि अन्य प्रातिशाख्यों में इस संज्ञा का प्रयोग नहीं है।

उपाचार द्र. उपाचरित।

उरस् द्र. स्थान।

उरस्य उरस् (कण्ठ का अधोभाग) से उच्चारित होने वाले वर्ण।

यथा : ह विसर्जनीय (अः)। केचिदेता उरस्यौ। ऋ.प्रा. 1.40

– उरसि विसर्जनीयो वा। ऋ.तं. 3

विशेष वस्तुतः प्रातिशाख्यकारों तथा पाणिनि आदि वैयाकरणों ने हकार और विसर्जनीय का उच्चारण-स्थान कण्ठ्य ही स्वीकार किया है, किन्तु कतिपय आचार्य इनको उरस्य भी स्वीकार करते हैं। पा.शि. पञ्चमाक्षर और अन्तस्थ से युक्त हकार को उरस्य स्वीकार करती है। अन्यत्र हकार कण्ठ्य ही है।

हकारपञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यम् तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्।

यथा : अह्नुतम्, जुह्वोह्यग्निः, ब्रीह्य इत्यादि। पा. शि. 16। इन उदाहरणों में हकार का अभिघात कण्ठ्य हकार की अपेक्षा न्यून है। यहाँ हकार की औच्चारणिक स्थिति विसर्ग की उच्चारण-स्थिति से साम्य रखती है।

द्र. या.शि. 177; लो.शि. 9; व.प्र.शि. 26; स.स.शि. 42 (सर्वसम्मत-शिक्षा)।

उरो बृहती बृहती का एक भेद।

द्र. न्यङ्कुसारणी।

उष्णिक् वैदिक छन्दों में गायत्री के बाद द्वितीय छन्द, उष्णिक् में अट्ठाईस वर्ण होते हैं। क्रमशः आठ-आठ एवं बारह वर्णों से युक्त यह तीन पादों वाला होता है।

यथा : अग्ने वाजस्य गोमत, ईशानः सहसो यहो,

अस्ते धेहि जातवेदो महि श्रवः। ऋ.सं. 1.79.4

– अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः।

ऋ.प्रा.16.19

उष्णिग्-गर्भा गायत्री गायत्री छन्द का एक भेद। इसमें प्रथम पाद छह अक्षरों का, द्वितीय पाद सात अक्षरों का एवं तृतीय पाद ग्यारह अक्षरों का होता है।

यथा : *ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना।* ऋ.सं. 8.25.23

– षडक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षरः, एषोष्णीग्गर्भा गायत्री।

ऋ.प्रा.16.28

उष्मन् श, ष, स, ह और अयोगवाह। ऊष्मवायु-प्रधान वर्ण जिसका प्रयत्न विवृत है।

यथा : श, ष, स, ह अः क प अं ।

– उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः। ऋ.प्रा. 1.10

– परे षडूष्माणः। तै.प्रा. 1.9

– शिति, षिति, सिति, हिति। वा.प्रा. 8.17

– अथोष्माणो हिति शिति षिति योगवाहाः। ऋ.तं. प्र.प्र.2

– ऊष्मा=वायुः, तत्प्रधाना वर्णा ऊष्माणः।

ऋ.प्रा. 1.10 पर उ.भा.

– ऊष्माख्य-बाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या।

तै.प्रा.1.9 (वै.भा.)

ऋ

ऋग्विराम द्र. विराम।

ऋचा पादबद्ध मन्त्र। सीमित अक्षरों, पादों और अर्धर्चों से युक्त।

ऋच इति परिमिताक्षरपादार्धर्च-विहिता मन्त्राः। ऋ.प्रा.वि.वि.

(यः कश्चित्पादवान्मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसंपदा।

स्वरयुक्तोऽवसानेन च तामृचं परिजानते।)

ए

एकपद [1] प्रत्येक पद।

– एकपदानि, एकैकं पदम्। ऋ.प्रा. 11.35 पर उ.भा.

बहुक्रमे क्रमेत तस्यैकपदानि निःसृजन्। ऋ.प्रा. 11.35

एकपद [2] समानपद/अखण्डपद।

यथा : *शों सामोद इव।* तै.सं. 3.2.9

इसमें 'शो' को एकपद मानकर 'अनुनासिक' किया गया है।

– स्नादिषु चैकपद ऊष्मपरः। तै.प्रा. 15.4

– ते नानन्तरा षष्ठ्येकपदवत्। वा.प्रा. 2.18

एकप्राणभाव एक श्वास से उच्चार्यमाण। नियत वेदभाग।

यथा : *देवंगममसि।* तै.सं. 1.1.2

शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे। तै.सं. 1.1.3

– अथ संहितायामेकप्राणभावे। तै.प्रा. 5.1

एकमात्र एकमात्रिक वर्ण (ह्रस्व स्वर)।

यथा : एकमात्रो ह्रस्वः। च.अ. 1.59

– ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्ति-विरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण।। तै.प्रा. 22.13

एकयम एक स्वर। प्राचीन आचार्यों के मत में प्रत्येक वर्ण एक स्वर वाला (सस्वर) होता है जो सामान्यतया उदात्त होता है।

– सर्वमेकयमं पूर्वेषां सर्वमेकयमं पूर्वेषाम्। तै.प्रा. 15.9

एकवर्ण[1] एकवर्ण वाला पद।

एकवर्णः, पदमपृक्तः। तै.प्रा. 1.54

परा. ऋ.प्रा. 1.75,11.3, ऋ.प्रा.

द्र. अपृक्त।

एकवर्ण[2] सन्ध्यक्षर से भिन्न स्वर।

यथा : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ।

– द्विवर्ण मेरुवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे। वा.प्रा. 4.144

एकश्रुति द्र. प्रचय।

एकाक्षर एक स्वर वाला पद।

यथा : स्व, भू, वाच्।

परा ऋ.तं. 230, च.अ. 4.55-56

तुल. एकाक्षरात्कृतौ जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ। पा.सू. 5.2.115 पर म.भा.

एकादेश एकरूपात्मक आदेश। पूर्व और पर के स्थान में होने वाला एक आदेश। एकरूपात्मक आदेश जो गुण, वृद्धि, दीर्घ, पूर्वरूप और पररूप भेद से पाँच प्रकार के होते हैं।

यथा : गङ्गोदकम्, गङ्गौघः, श्रीशः, हरेऽव, उपोषति।

- अनुनासिकस्य च पूर्वेणैकादेशो। च.अ. 1.69

एकान्तर ओष्ठ्यस्वरवान् दो वर्णों व पदों के उच्चारण में एकमात्रिक व्यवधान।

यथा : *अथो उभावेव।* तै.सं. 5.6.2

एकान्तरस्तु सर्वत्र प्राकृतात्। तै.प्रा. 2.25

विशेष पाणिनि के अनुसार दो वर्णों या दो पदों के मध्य में आनेवाला एकवर्ण या एकपद एकान्तर है।

यथा : आम् पचसि देवदत्त। यहाँ 'पचसि' एकान्तर है।

तुल - आम् एकान्तरमामन्त्रिकमनन्तिके। पा.सू. 8.1.55

ओ

ओजस् विषम स्वर। ऋ.प्रा. की वर्णमाला में सप्तम वर्ण तक पठित विषम स्वर जो ह्रस्व-संज्ञक है।

यथा : अ, ऋ, इ, उ।

- ओजाः ह्रस्वाः, सप्तमान्ता स्वराणाम्। ऋ.प्रा. 1.17

ओष्ठ द्र. स्थान।

ओष्ठ्य ओष्ठ से उच्चारित वर्ण। पवर्ग, वकार उ ऊ, उपध्मानीय (×प × फ) ओ, औ- ये सभी वर्ण ओष्ठ-स्थानीय हैं।

- शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्। ऋ.प्रा. 1.47

- ओष्ठाभ्यां पवर्गे। तै.प्रा. 2.39

- ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे। तै.प्रा. 2.43

- ओष्ठोपसंहार उवर्णे। तै.प्रा. 2.24
- स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण। तै.प्रा. 2.44
- ओष्ठौ तूपसंहृततरौ। तै.प्रा. 2.14
- उवो प्पा ओष्ठे वा.प्रा. 1.70
- समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः। वा.प्रा. 1.80
- ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्। च.अ. 1.25
- ओष्ठ्ये वो पू। ऋ.त. 9

तुल.। पा.शि. 17

विशेष 'व'- व्यतिरिक्त ओष्ठ्य-ध्वनियों का उच्चारण-स्थान उत्तरोष्ठ है। 'व' का उच्चारण-स्थान दन्ताग्र भी है किन्तु दोनों ही स्थितियों में दोनों ही करण है।

औ

औष्णिह प्रगाथ ऐसा प्रगाथ जिसके आदि में उष्णिक् एवं अन्त में सतो बृहती हो।

यथा : *यमादित्यासो अद्रुहः।* ऋ.सं., 8.19.34-35

- औष्णिहस्तूष्णिहापूर्वः। ऋ.प्रा.18.7
- ककार कवर्ग। जिह्वामूले कृ। ऋ.तं. 4
- जिह्वामूलीयस्था जिह्वामूलस्थानाः ककार-ऋकार-ॠकाराः।

क

ककुप् उष्णिक् उष्णिक् छन्द का एक भेद, बारह अक्षरों का मध्यम चरण।

यथा : *सुदेवः समहासति।* ऋ.सं. 5.53.15

– पुर उष्णिक् तु सा तस्मिन् प्रथमे मध्यमे ककुप्।
ऋ.प्रा. 16.30

ककुभ् न्यङ्कुशिरा निचृत् उष्णिक् उष्णिक् का एक भेद। इसमें प्रथम पाद ग्यारह, मध्यम पाद बारह तथा अन्तिम पाद चार अक्षरों का होता है।

यथा : ददी *रेक्ण इति त्वेषा ददीर्वसु।* ऋ.सं. 8.46.15

– ककुभ् न्यङ्कुशिरा निचृत् एकादशोऽस्याः प्रथम उत्तमश्चतुरक्षरः। ऋ.प्रा. 16.33

कण्ठ द्र. स्थान।

कण्ठ्य कण्ठ में उच्चारित होने वाले वर्ण।

यथा : अ, आ, आ, इ, अः, हः।

– कण्ठ्योऽकारः। ऋ.प्रा.1.38

– प्रथम-पञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्, ऋ.प्रा. 1.39

– कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ। तै.प्रा. 2.46

– अहविसर्जनीयाः कण्ठे। वा.प्रा. 1.71

– कण्ठ्यानामधरकण्ठः। च.अ. 1.19

– हाः कण्ठे। ऋ.तं. 2

द्र. कण्ठे भवः=कण्ठ्यः। ऋ.प्रा.1.38 (उ.भा.)

तुल. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। पा.सू. 1.1.9

करण[1] आभ्यन्तर प्रयत्न, प्रदान। वर्णाभिव्यक्ति के अव्यवहित पूर्व आस्यगत प्रयत्न (मुखप्रयत्न)।

– करणं प्रदानम् इत्यर्थान्तरमाहु। ऋ.प्रा. 13.8 पर उ.भा.

– तद्विशेषः करणम्। ऋ.प्रा. 13.8

– परिमाणाच्च पञ्चमात्। तै.प्रा. 23.2

– परा. द्वे करणे। वा.प्रा. 1.11

– स्पृष्टं करणम् स्पर्शानाम्। ऋ.तं. प्र.प्र. 3

– करणमध्यं तु विवृत्तम्। तै.प्रा. 2.45

तुल. स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। पा.सू. 1.1.10, म.भा. 3

विशेष[1] प्रातिशाख्यों तथा उनकी टीकाओं में 'करण' के लिए आस्य-प्रयत्न, मुखप्रयत्न, प्रदान, आरभ्यन्तर-प्रयत्न आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

करण[2] संसर्ग-स्थान के वायु का कठोर (स्पर्श, यमवर्ण), कोमल (अन्तःस्थ) और कोमलतर (ऊष्म, स्वरवर्ण) अभिघातात्मक संसर्ग। यथा : अकार का संसर्ग कण्ठ है।

– अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात्।
जायते वर्णवैशिष्यं परीमाणाच्च पञ्चमादिति।। तै.प्रा. 23.2

विशेष उक्त संसर्ग त्रिविधात्मक होता है- अयःपिण्डवत्, दारुपिण्डवत् और ऊर्णा-पिण्डवत्। स्पर्श और यम-वर्णों की उत्पत्ति में उच्चारण-स्थानों पर वायु का अभिधान 'अयःपिण्डवत्' अर्थात् कठोर, अन्तःस्थ वर्णों में 'दारुपिण्डवत्' अर्थात् कोमल और ऊष्म तथा स्वर-वर्णों का 'ऊर्णापिण्डवत्' अर्थात् कोमलतर होता है।

– संसर्गो वायुस्थाना संसर्गोऽभिघातात्मकः। स त्रिविधः अयःपिण्डवद्दारुपिण्डवदूर्णापिण्डवदिति। स्पर्शयमकारो वायुः अयःपिण्डवत्स्थानमापीडयति। अन्तःस्थावर्णकरो वायुः दारुपिण्डवत्। ऊष्मस्वरवर्णकरो वायु ऊर्णापिण्डवदिति।
तै.प्रा. 23.2 पर वै.भा.

करण[4] स्थान। उच्चारणस्थान।

यथा : अकार का स्थान हनुमूल।

करण [5] सक्रिय उच्चारणावयव (करण-विन्यय:)। वर्णाभिव्यक्ति में मुखस्थ सक्रिय उच्चारणावयव जो स्वरवर्णों में उपसंहार के कारण होते हैं (सचल अवयवों का कण्ठताल्वादि अचलस्थानों के समीप जाना)।

यथा : अकार का करण-विन्यय अधर और ओष्ठ है।

- यदुपसंहरति तत्करणम्। येन स्पर्शयति तत् करणम्। तै.प्रा. 2.32,34
- मुखे विशेषा: करणस्य। च.अ. 1.18
- येनोपक्रम्यते तत् करणम्। च.अ. पर ह्विटनी की अंग्रेजी-व्याख्या में उद्धृत।

परा. वा.प्रा. 1.43,76,84; तै.प्रा. 2.35-45

करण [6] परीमाण। स्वरवर्णगत मात्राकाल।

यथा : अकार का एकमात्रात्मक काल।

- परीमाणाच्च पञ्चमादिति। तै.प्रा. 23.2
- परीमाणस्य पृथग्वचनं स्वराख्य-वर्णमात्रविषयत्व-ख्यापनार्थम्। तै.प्रा. 23.2 पर वै.भा.

कर्मनामन् नामधातु, इच्छा अर्थ में प्रातिपदिक से बनी हुई धातु।

यथा : *अधायन्ति, शत्रुयन्ति।*

यादाविच्छायां स्वरात्कर्मना- मतन्मानिप्रेप्सुषु।। च.अ. 4.29

परा. धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे। वा.प्रा. 5.10

कर्मप्रवचनीय भूतकालिक क्रिया से सम्बद्ध किन्तु क्रियापद की अपेक्षा न रखने वाला उपसर्ग।

यथा : य: विश्वा अभि-वि-पश्यन्ति। अ.सं. 6.34.4

- देवमभिसिञ्चति। अनर्थकर्मप्रवचनीयान्ययुक्तैर्विग्रहोऽभि-वितन्वादिषु। च.अ. 4.3

तुल. पा.सू. 1.4.83 से 1.4.96 तक

-कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया इति। पा.सू. 1.4.83 पर म.भा.

काकुभ त्रैष्टुभ ऐसा प्रगाथ जिसके आदि में ककुभ् तथा अन्त में त्रिष्टुभ् छन्द हो।

यथा : *यदध्रिगावो अधिगू।* ऋ. सं. 8.22.11-12

- यदधिगावो अधिगू ककुप् च त्रिष्टुबेव च।

ऋ.प्रा.18.23

काकुभ प्रगाथ ककुभ् से प्रारम्भ होने वाला प्रगाथ छन्द।

यथा : *तं गूधर्या स्वर्णरम्।* ऋ.सं. 8.19.1-2

- ककुप्पूर्वस्तु काकुभः। ऋ.प्रा. 18.1

काकुभ बार्हत ऐसा प्रगाथ जिसके पूर्व में ककुभ् एवं अन्त में बृहती छन्द हो।

यथा : *को वेद जानमेषां।* ऋ.सं. 5.53. 1-2

- ककुप्पूर्वस्तु को वेद स्मृतः काकुभ बार्हतः।

ऋ.प्रा. 18.19

कार वर्णनिर्देशक। अ, क आदि वर्णों का निर्देशन 'कार' प्रत्यय से किया जाता है।

यथा अकार, ककार।

- वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्यः। तै.प्रा. 1.16

- वर्णकारौ निर्देशकौ। तै.प्रा. 22.4

- कारेण च। वा.प्रा. 1.37

- वर्ण इति पूर्वः कारा(हा) ख्यायाम्। व्यञ्जनमकारपूर्वात्। ऋ.तं. प्र. प्र. 3

विशेष कार-प्रत्यय से व्यञ्जन का निर्देश करने पर व्यञ्जन और कार 'अ' से व्यवहित होता है। अर्थात् उन दोनों के बीच में 'अ' जोड़ दिया जाता है।

यथा : क्+अ+कार=ककार।

– अकारव्यपेतो व्यञ्जनानाम्। तै.प्रा. 1.17

– अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य। वा.प्रा. 1.38

कारितान्त प्रयोजक प्रत्ययान्त (ण्यन्त)।

यथा : *वातः च्यवयति।* अ.सं. 10.1.13

– च्यावयतेः कारितान्तस्य। च.अ. 1.91

तुल. इन् कारितं धात्वर्थे। का.तं. 3.2.9

– हेतुमति च। पा.सू. 3.1.26

काल शास्त्र (वा.प्रा. के सूत्र) का भाग जिसका व्यवच्छेदक सूत्रस्थ 'हि' शब्द है।

यथा : पूर्वकाल (पूर्वभाग), परकाल (परभाग)।

– न परकालः पूर्वकाले पुनः। वा.प्रा. 3.4

– हि। ह्यन्तराः कालाः। वा.प्रा. 3.5

तुल. पूर्वत्रासिद्धम्। पा.सू. 8.2.1

काविराट् अनुष्टुभ् अनुष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में आदि एवं अन्त के चरणों में नौ-नौ अक्षर एवं मध्य के चरण में बारह अक्षर होते हैं। (अनुष्टुभ् के निर्धारित बत्तीस अक्षरों से दो अक्षर न्यून)।

यथा : *ता विदांसा हवामहे वाम्।* ऋ.सं.1.120.3

– नवकौ द्वादशी न्यूना ता विद्वांसेति काविराट्।

ऋ.प्रा.16.40

कृति अनुष्टुभ् अनुष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में पूर्व के दो चरण बारह-बारह अक्षर तथा परवर्ती चरण आठ अक्षरों वाला होता है।

यथा : *मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नः।* ऋ.सं. 1.120.8

– कृतिर्द्वौ द्वादशाक्षरावेकश्चाष्टाक्षरः परः। ऋ.प्रा.16.38

कृतिः तृतीय वर्ग का अस्सी अक्षरों वाला अति छन्द।

यथा : आ सुरैतु परावतः। तु. प्रै. पृ.123-125

– कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संस्कृतिस्तथा,

षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते। ऋ.प्रा.16.89

विशेष अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीति द्विर्नवतिः, षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमा तु चतुःशतम्। ऋ.प्रा. 16.90

कृति छन्द के नाम एवं अक्षरसंख्या (ऋ.प्रा.) में एकत्र ही दर्शायी गई है।

कृत् कृदन्त (धातुज)। यथा : कर्ता, कारक इत्यादि।

यथा येषां भागोऽसि। तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्। वा.प्रा. 1.27

क्रम वर्णों का द्विरुच्चारण। स्वर और अनुस्वार के पर में विद्यमान संयुक्त वर्ण का प्रथम व्यञ्जन द्वित्व होने पर क्रम-संज्ञक होता है।

यथा : *आ त्त्वा रथं यथोतये।* ऋ.सं. 8.68.1

– *सोमानं स्स्वरणम्।* ऋ.सं. 1.18.1

– स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते, संयोगादिः सक्रमोऽविक्रमे सन्। ऋ.प्रा. 6.1

– स्वरपूर्व व्यञ्जनं द्विवर्ण व्यञ्जनपरम्। तै.प्रा. 14.1

– प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। तै.प्रा. 24.5

- क्रमशब्दो द्वित्वपर्यायः। तै.प्रा., (त्रिभा:.र.) 21.16
- क्रमो नाम द्वित्वम्। तै.प्रा. (वै.भा.) 21.16
- स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र। वा.प्रा. 4.101
- क्रमजं च। वा.प्रा. 1.104
- क्रमाज्जातं क्रमजं। यत् संयोगादेः परस्य वर्णस्य द्विरुक्त्या जायते तत् क्रमजमित्युच्यते।

  वा.प्रा. (उ.भा.) 1.104
- पदान्ते व्यञ्जनं द्विः। च.अ. 3.26
- संयोगादि स्वरात्। च.अ. 3.28,
- रात् सण् ऋ.तं. 269

विशेष क्रम, क्रमपाठ (दो-दो पदों का सहोच्चारण)। ऋचा में दो पदों से आरम्भ करके पूर्वपद को छोड़ते हुए उत्तर-वर्ती का उसके उत्तरवर्ती पद के साथ उच्चारण।

यथा : *पर्जन्याय प्र गगायत। गायत दिवः।* ऋ.सं. 7.102.1

- क्रमः। ऋ.प्रा. 10.1
- अर्थाशर्यलोपेन यदाह स क्रमः, समानकालं पदसंहित द्वयोः। ऋ.प्रा. 11.1
- क्रमः स्मृति-प्रयोजनः। क्रमविक्रमसम्पन्नामद्रुताम-विलम्बिताम्। नीचोच्चस्वरसम्पन्नां वदेद्धृतवतीं समां वदेद्धृतवतीं समामिति।। तै.प्रा. 23.24, वा.प्रा. 4.182
- द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमवसानादपृक्तवर्जम्। वा.प्रा. 4.183
- द्वे पदे क्रमपदम्। च.अ. 4.110

क्रमः दो-दो पदों का सहोच्चारण। क्रमपाठ में दो-दो पदों में मेल होता है। अपृक्त वर्ण को छोड़कर अवसान से पहले तक उत्तरवर्ती की, उसके उत्तरवर्ती के साथ सन्धि होती है।

द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमवसानादपृक्तवर्जम्।

वा.प्र. 4.183

क्रमज द्र. क्रम।

क्रमण द्वित्व-सहित उच्चारण। जहाँ नियमतः द्वित्व अप्राप्त है, वहाँ द्वित्व-सहित उच्चारण।

यथा : *प्र प्रदेवं देव्या धिया।* ऋ.सं. 10.1.6.2

- क्रमणं वा यथोक्तम्। ऋ.प्रा. 14.58

क्रमपद द्र. क्रम [2]

क्षैप्र सन्धि यण्-सन्धि। पदान्त इ, ई, उ, ऊ, के बाद में तद्भिन्न स्वर होने पर क्रमशः 'य्' तथा 'व्' हो जाता है।

यथा : *अभि आर्षेयम्=अभ्यार्षेयम् जमदग्निवन्नः। अधि। इत्। नु। अत्र अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च।*

ऋ.सं. 9.97.51; 10.93.12

- समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्।
न समानाक्षरे स्वे स्वे ते क्षैप्राः प्राकृतोदयाः।

ऋ.प्रा. 2.21-23

- इवर्णोकारौ यवकारौ। तै.प्रा., 10.15
- स्वरे भाव्यन्तस्थाम्। वा.प्रा. 4.47
- स्वरे नामिनोऽन्तःस्था। च.अ. 3.39
- अन्तःस्थाम्। ऋ.तं. 109

तुल. इको यणचि। पा.सू. 6.1.77

विशेष ऋ.तं. में 'क्षैप्र' संज्ञा का प्रयोग नहीं है किन्तु इस सन्धि का प्रयोग किया गया है।

क्ष्वेडन शीत्कार ध्वनि का आधिक्य। ऊष्म वर्णों के उच्चारण में शीत्कार-ध्वनि का आधिक्य। लोमश्यं च क्ष्वेडनमुष्मणां तु।

ऋ.प्रा. 14.20

- क्ष्वेडनं नामाधिको वर्णस्य सरूपो ध्वनिः।

ऋ.प्रा. 14.20 पर उ.भा.

ग

गति उच्चारण-गति (वृत्ति)। गति तीन प्रकार की होती है। यह मात्रात्मक, अर्धमात्रात्मक और पादोनमात्रात्मक होती है।

- तिश्च त्रिकला वा। ऋ.तं. 29

- गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्। ऋ.प्रा. 18.42

गायत्र आठ अक्षरों वाला चरण।

यथा : *अग्निमीडे पुरोहितम्।* ऋ.सं. 1.1.1

-पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षर वा दशाक्षरौ। ऋ.प्रा. 17.37

गायत्र काकुभ प्रगाथ ऐसा प्रगाथ जिसके आदि में गायत्री और अन्त में ककुभ् हो।

यथा : *सुनीथो धा स मर्त्यः।* ऋ.सं. 8.46.4-5

-गायत्र काकुभो नाम प्रायो भवति काकुभे।

ऋ.प्रा.18.6

गायत्र बार्हत प्रगाथ ऐसा प्रगाथ जिसके आदि में गायत्री तथा अन्त में बृहती होती है।

यथा : *तमिन्द्रं दानमीमहे।* ऋ.सं. 8.46-6-7

-गायत्र्यादिस्तु बार्हते प्रायो गायत्र बार्हतः। ऋ.प्रा. 18.5

गायत्री वैदिक छन्दों में प्रथम वर्ग का छन्द। गायत्री छन्द में चौबीस अक्षर होते हैं। तीन पदों की गायत्री में प्रति पद आठ अक्षर होते

हैं एवं चार पदों की गायत्री में प्रति पद छः अक्षर होते हैं।

- गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा। अष्टाक्षरास्त्रयः पादाश्चत्वारो वा षडक्षराः। ऋ.प्रा. 16.16

यथा : *अग्निमीडे पुरोहितम्।* ऋ.सं. 1.1.1

यह त्रिपदा गायत्री का पाद है, जिसमें आठ वर्ण हैं।

- इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीडितः। ऋ.प्रा. 16.17

यह षडक्षरा गायत्री का उदाहरण है।

विशेष आर्ष छन्दों में सात-सात छन्दों के तीन वर्ग होते हैं। प्रथम वर्ग में गायत्री से जगती, द्वितीय में अतिजगती से अतिधृति एवं तृतीय वर्ग में कृति से उत्कृति पर्यन्त छन्द गृहीत हैं। वैदिक छन्दों के वर्ण एवं पाद के आधार पर अनेक भेद होते हैं।

गुरु[1] दीर्घ अक्षर।

यथा : *आरुक्मैरा युधा नरः।* ऋ.सं. 5.52.6

- गुरु दीर्घम्। ऋ.प्रा. 18.41

गुरु[2] दीर्घ अक्षर।

यथा : *नू देवासो वरिवः कर्तना नोभूत्।* ऋ.सं. 17.48.4

- गुर्वक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.37

गुरुतर व्यञ्जन-सहित दीर्घ अक्षर।

यथा : *राष्ट्री।* ऋ.सं. 5.52.6

- गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्। ऋ.प्रा. 18.42

गुरुवार दीर्घ स्वर। वह स्वर गुरु-संज्ञक होता है जो द्विमात्रिक विरामस्थ व्यञ्जनान्त, संयोग-पर एवं अनुस्वार-पर हो।

यथा : व्यञ्जनान्त-मातेव पुत्रम्। तै.सं. 4.2.3

द्विमात्रिक-ते तेऽधिपतयः। तै.सं. 4.4.11

संयोगपर-*अश्मा च मे।* तै.सं. 4.7.5

अनुस्वारपर-*विंशत्यै स्वाहा।* तै. सं. 7.2.13

- गुरूणि दीर्घाणि। ऋ.प्रा. 1.20

- तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि। ऋ.प्रा. 1.21

- गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्। ऋ.प्रा. 18.42

- यदव्यञ्जनान्तं यदुचापि दीर्घम् संयोगपूर्वञ्च तथाऽनुनासिकम्। एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्। तै.प्रा. 22.14

- संयोग-पूर्व व्यञ्जनान्तावसानगता स्वराः द्विमात्राः। वा.प्रा. 4.109

- गुर्वन्यत्। अनुनासिकं च पदान्ते च। च.अ. 1.52-54

- गुरू सणि। ऋ.तं.49

- घम्। ऋ.तं. 50

तुल. संयोगे गुरुः। दीर्घं च। पा.सू. 1.4.11-12

विशेष[1] वा. प्रा. में गुरुसंज्ञा का विधान द्विमात्र शब्द से किया गया है।

विशेष[2] ऋ.तं. में संयोग को 'सण्' और दीर्घ को 'घ'-संज्ञा से अभिहित किया गया है।

विशेष[3] गुरु के उपरिलिखित लक्षणों में दीर्घ स्वर को छोड़कर शेष विधान प्रायः छन्दस्-प्रयोग को उद्दिष्ट कर विहित है।

तुल. पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रम्।

ग्रस्त रुका हुआ (स्तम्भित, वर्णगत दोष)। जिह्वामूल से उच्चारण (दोष)। जिह्वामूल के स्तम्भित होने की स्थिति में वर्ण का अस्पष्ट उच्चारण। यह ग्रस्त दोष कण्ठ्य-अकार और आकार के उच्चारण में देखा जाता है।

- जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तमेतत्। ऋ.प्रा. 14.8
- ग्रासः कण्ठ्ययोः। ऋ.प्रा. 14.12

तुल. ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितम्। ग्रस्तः जिह्वामूले गृहीतः। अव्यक्त इत्यपरे। म.भा. आह्निक-9 पर प्रदीप।

विशेष ' ऋ.प्रा. में ग्रस्त को ग्रास भी कहा गया है।

ग्रासो मुख्ये। ऋ.प्रा. 4.22।

अमरकोश 1.6.20 में ग्रस्त का अर्थ लुप्त कहा गया है।

ग्रहण प्रातिपादिक (वेदस्थ), वेद। यह कार्यभाक्, निमित्त तथा उपबन्ध भेद से तीन प्रकार का होता है। ग्रहण की अःकार संज्ञा भी होती है।

- ग्रहणस्य च। तै.प्रा. 1.22;
- ग्रहणं वा।
- तै.प्रा. 1.24; अःकार आगमविकारिलोपिनाम्। तै.प्रा. 1.23;
- गृह्येते इति ग्रहणम् वेदस्थः शब्दः। तत् त्रिविधम्-कार्यभाक्, निमित्तम्, उपबन्ध इति। तस्यापि स्वरूपपूर्वकः अकारः आख्या भवति। तै.प्रा. 1.24 पर वै.भा.

घ

घि द्र. घोष।

घोष अनुप्रदान (बाह्य-प्रयत्न) विशेष। संवृतकण्ठ (नादाख्य मूल प्रकृति=वायु) से अभिव्यक्त वर्ण। वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, अन्तःस्थ तथा 'ह' वर्ण।

- व्यञ्जनशेषो घोषवान्। तै.प्रा. 1.14
- संवृतो घोषवान्। ऋ.तं.प्र.3

- उत्तमा: घोषा:। हान्तस्था:। ऋ.तं. 14,15
- नादो घोषवत् स्वरेषु। च.अ. 1.53
- घि शेष:। वा.प्रा. 1.13
- पारिशेष्यादन्यानि घोषवत्संज्ञकानि व्यञ्जनानि।

ऋ.प्रा. 1.12 पर उ.भा.

विशेष तै. प्रा. 1.14 तथा ऋ.तं. प्र.प्र. 3 में घोष के लिए घोषवत्-संज्ञा का प्रयोग हुआ है, जब कि वा.प्रा.1.53 में घि शब्द का प्रयोग हुआ है।

घोषवत् द्र. घोष।

च

च - चवर्ग। इचशेयास्तालौ। वा.प्रा. 1.66

चकार च-वर्ग।

- तालुनि:श्च्ये। ऋ.तं. 2.5
- तालुस्थाना: शकार-चकार-यकार-इकार-ईकार-एकारा:।

ऋ.तं. 5 पर स्वोपज्ञ-टीका

चतुःक्रम चार पदों का क्रमवर्ग।

- चतुष्क्रमास्त्वाचरितोऽत्र शाकलै:। ऋ.प्रा. 11.19
- चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सौ। मकारपरे चैके।

वा.प्रा. 4.187, 188

- पदानुपूर्व्येण सपूर्व आ ततस् - ततोव्यवेतं च सह व्यवायि च।

ऋ.प्रा. 11.15

- पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च। ईलुप्तान्तं प्लुतादनि स्कम्भनेनेति लुप्तवत् इतो षिञ्चतावर्तम: पूर्वे द्वैपदयोर्द्वयो:।। स्वसारमास्कृतेत्युभे परं विरास एतन अतीत्यैतान्यवस्यन्ति।

ऋ.प्रा. 10.3

विशेष ऋग्वेद की शाकल शाखा के अनुयायी यहाँ चार पदों का एक क्रमवर्ग बनाते हैं।

चतुःक्रमः चार पदों का एक क्रम-वर्ग। सु-पद के पूर्व में अपृक्त-संज्ञक पद हो तथा बाद में 'न' हो तो क्रमपाठ में चार पदों से एक क्रम वर्ग बनाते हैं।

यथा : ऊर्ध्व ऊषुणः।

चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सौ। वा.प्र. 4.187

चतुष्कला चार कला अर्थात् एक मात्रा। मध्यमा वृत्ति में वर्णकाल मात्रात्मक होता है।

चतुष्कला मध्यमायाम्। ऋ.तं. 32

चर्चा द्र. परिग्रह।

ज

जगती अड़तालीस वर्णों वाला छन्द जिसके प्रत्येक चरण में बारह-बारह वर्ण होते हैं।

यथा : *प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः।* ऋ.सं. 9.68.1

– पञ्चाशज्जगती द्यूना चत्वारो द्वादशाक्षराः।

तदस्याः बहुलं वृत्तम्। ऋ.प्रा. 16.74

जगत्युत्तरत्रैष्टुभ ऐसा प्रगाथ जिसके पूर्व पद में त्रिष्टुभ् तथा अन्तिम पाद में जगती हो।

यथा : *इदं नमो वृषभाय स्वराज।* ऋ.सं. 1.51.15

– उत्तरस्त्रैष्टुभस्तस्माज्जगत्युत्तर उच्यते। ऋ.प्रा.18.29

जागत बारह अक्षरों वाला चरण।

– एकादशि-द्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ। ऋ.प्रा.17.38

जागतत्रैष्टुभ द्र. त्रिष्टुबुत्तर जागत।

जागतस्त्रिष्टुबुत्तर द्र. त्रिष्टुबुत्तर जागत।

जित् वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा हकार-रहित ऊष्म वर्ण।

- द्वौ प्रथमौ जित्, ऊष्माणश्च हवर्जम्। वा.प्रा. 1.50-51

तुल. पाणिनि के चतुर्दश सूत्र का 'खय्'-प्रत्याहार।

जिह्वाग्र जिह्वा का अग्र-भाग (करण विशेष)। जिह्वाग्र (प्रतिवेष्टित/प्रस्तीर्ण) द्वारा मूर्धन्य तथा दन्त्य वर्णों का उच्चारण होता है।

- जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे। तै.प्रा. 2.37
- जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। तै.प्रा. 2.38
- मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्। च.अ. 1.22
- दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम् च.अ. 1.24।

विशेष[1] मूर्धन्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वाग्र प्रतिवेष्टित होता है। अर्थात् जिह्वाग्र का अधःभाग पीछे मुड़कर तालु का स्पर्श करता है।

विशेष[2] दन्त्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वाग्र प्रस्तीर्ण होता है। अर्थात् आगे की ओर फैलकर दाँतों का स्पर्श करता है।

जिह्वाग्रमध्य जिह्वाग्र का मध्य-भाग (करणविशेष)। जिह्वाग्र-मध्य से रेफ का उच्चारण होता है।

- रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। तै.प्रा. 2.41

जिह्वाप्रथन जिह्वा-विस्तार के साथ उच्चारण। प्रथम चार स्पर्श-वर्गों का जिह्वा-विस्तार के साथ उच्चारण।

- वर्गेषु जिह्वाप्रथनं चर्तुषु। ऋ.प्रा. 14.21
- आद्येषु चर्तुषु वर्गेषु जिह्वाप्रथनं क्रियते। जिह्वायाः प्रथनं नाम विस्तारः। ऋ.प्रा. 14.21 पर उ.भा.

जिह्वामध्य जिह्वा का मध्य-भाग (करण-विशेष)। जिह्वा-मध्य के द्वारा 'इ' वर्ण, और 'च' वर्ग का उच्चारण होता है।

- तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे। तै.प्रा. 2.22
- तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे। तै.प्रा. 2.36
- तालव्यानां मध्यजिह्वम्। च.अ. 1.21

जिह्वामध्यान्त जिह्वा का मध्यान्त (करण-विशेष)।

जिह्वा के मध्यान्त-भाग से यकार का उच्चारण होता है।

तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। तै.प्रा. 2.40

जिह्वामूल द्र. स्थान।

जिह्वामूलीय जिह्वामूल से उच्चरित होने वाले वर्ण, जिह्वामूल-करण से हनु स्थान (कोमल तालु) में उत्पन्न वर्ण।

यथा : ऋ, ऋ3 लृ, ल, कवर्ग।

- ऋकाराल्लकारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः। ऋ.प्रा. 1.41
- हनूमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति। तै.प्रा. 2.35
- जिह्वामूलीयं जिह्वामूलेन जन्यत्वात्।
  तै.प्रा.1.18 पर वै.भा.
- ऋक्कौ जिह्वामूले। वा.प्रा. 1.65
- जिह्वामूले कृ। ऋ.तं. 85
- जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्। च.अ. 1.20

विशेष [1] तै. प्रा. 2.35 और च. अ. 1.20 के अनुसार हनुमूल को इन वर्णों का स्थान तथा जिह्वामूल को करण माना गया है। परन्तु हनुमूल और जिह्वामूल के अत्यन्त सामीप्य होने के कारण इन वर्णों का नाम-

करण स्थान के अनुसार न होकर करण के अनुसार हुआ है।

विशेष [2] पाणिनि तथा उनके अनुयायी आचार्य जिह्वामूलीय वर्णों में 'कवर्ग' को कण्ठ्य मानते हैं। इसके समर्थन में नागेश कहते हैं-

– अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानं तत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम्।

ल. शा. पृ. 28

अर्थात् पाणिनि के कण्ठ-पद का आशय कण्ठस्थान और उसके समीप जिह्वामूल दोनों से है।

जीव विराट् अत्यष्टि। द्र. ताराङ्।

ज्योतिष्मती त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में कोई भी तीन चरण बारह-बारह अक्षरों के तथा कोई भी एक चरण आठ अक्षरों के होते हैं।

यथा : *यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुः।* ऋ.सं. 8.10.2

-त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित्।

एषा ज्योतिष्मती नाम ततो ज्योतिर्यतोऽष्टकः।

ऋ.प्रा. 16.70

त

त तवर्ग (त, थ, द, ध, न)।

- लृ लसिता दन्ते। वा.प्रा. 1.69

- प्रथमग्रहणे वर्गम्। वा.प्रा. 1.64

तकार त वर्ग का प्रथम वर्ण।

- दन्ते त्स्लाः।। ऋ.तं. 7

- दन्तस्थानास्तकार-सकार-लकाराः। ऋ.तं. की स्वोपज्ञ वृत्ति।

तद्धित तद्धितान्त (नामज)।

यथा : *आग्नेयः। सारस्वतः* इत्यादि।

कृष्णग्रीवा आग्नेयाः।

– तिङ्कृतद्धित चतुष्टयसमासाः शब्दमयम्। वा.प्रा. 1.27

परा. च.अ. 2.83

तनुशिरा उष्णिक् अट्ठाइस अक्षरों वाला उष्णिक् का एक भेद। प्रथम और द्वितीय पाद में ग्यारह-ग्यारह अक्षर एवं तृतीय पाद में छह अक्षर होते हैं।

यथा : *प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे।* ऋ.सं. 1.120.5

ताभ्यां परः षडक्षरः प्र या तनुशिरा नाम। ऋ.प्रा. 16.35

तन्मानिन् नामधातु।

यथाः शत्रुयन्ति, अघायन्ती यादाविच्छायं स्वरात्कर्मनामतन्मा-निप्रेप्सुषु।

तार सप्तम वाचस्थान। जिस वाचस्थान में प्रयुज्यमान शब्द प्रयोक्ता को शिरःप्रदेश में वर्तमान होता हुआ श्रोता को स्वर व्यञ्जन-भेदज्ञान पूर्वक उपलब्ध होता हो, उसे तार (ऋ.प्रा. के अनुसार उत्तम) कहते हैं।

– त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः।

ऋ.प्रा. 13.42

– उत्तमं शिरसि वर्तते। ऋ.प्रा. 13-42 पर उ.भा.

– शिरसि तारम्। तै.प्रा. 23.12, द्र. उत्तम[3]

ताराड् विराट् गायत्री की संज्ञा।

विशेष गायत्री से लेकर उत्कृति तक छन्दों में निश्चित अक्षरों से दो अक्षर न्यून की विराट्-संज्ञा होती है। उस विराट् की भी पृथक्-पृथक् छन्द के साथ पृथक् -पृथक् संज्ञा होती है।

– ताराट् विराट् स्वराट् सम्राट् स्ववशिनी परमेष्ठी। प्रतिष्ठा प्रत्नममृतं वृषा शुक्रं जीवं पयः। तृप्तमर्णोंशोऽम्भोऽयोम्बु वार्यापश्चोदकमुत्तमम्। ऋ.प्रा. 17.5

तालव्य तालु-स्थान में उच्चरित होने वाले वर्ण। तालु में 'जिह्वामध्य' करण से उच्चारित होने वाले वर्ण।

यथा : इ, ई, उ, ए, ऐ, य, श, चवर्ग।

– तालव्यावेकार-चकार-वर्गाविकारेकारौ यकारः शकारः। ऋ.प्रा.1.42

– तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे। तै.प्रा. 2.36

– तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। तै.प्रा. 2.40

– स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण। तै.प्रा. 2.44

– इचशेयास्तालौ वा.प्रा. 1.66

– तालुस्थानानां मध्येन वा.प्रा. 1.79

– तालव्यानां मध्यजिह्वम्। च.अ. 1.21

– तालुनि श्च्ये। ऋ.तं. 5

तालु द्र. स्थान।

तिङ् क्रियापद (आख्यातक)।

यथा : *पचति, पठति। 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'*।

तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्। वा.प्रा. 1.27

तृप विराट् अतिधृति। द्र. ताराड्।

त्र

त्रिकला पादोन-मात्रा। द्रुत-वृत्ति में वर्णकाल त्रिकलात्मक होता है। कला अर्थात् मात्रा का चतुर्थांश।

- द्रुतायां वृत्तौ मात्रा त्रिकला भवति। ऋ.तं. 31 पर स्वोपज्ञवृत्ति।

त्रिक्रम तीन पदों का क्रम-वर्ग। अपृक्तसंज्ञक पदों को मध्य में रख कर तीन पदों से जो क्रम-वर्ग बनाया जाता है, वह त्रिक्रम-संज्ञक होता है।

- अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः। वा.प्र. 4.184

ऋ.प्रा. 11.17; च.अ. 4.113

त्रिपद प्रभृति तीन पद वाला बहुव्रीहि समास।

- यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृत्ति त्रिपदप्रभृति। तै.प्रा. 1.61
- त्रीणि पदानि प्रभृतिरादिर्यस्य तदिदं त्रिपदप्रभृतीति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। तै.प्रा. 1.61 पर वै.भा.

द्र. त्रिपद, अभ्यंकर के.वी., पृ. 177

त्रिमात्र तीन मात्रा वाला वर्ण (प्लुत स्वर)।

- त्रिमात्रः प्लुतः। च.अ. 1.62
- त्रिमात्रं सामसु। ऋ.तं. 39

परा. ऋग्विरामः त्रिमात्रः, तै.प्रा. 22.13

त्रिष्टुबुत्तर जागत ऐसा प्रगाथ जिसके पूर्व में जगती तथा अन्त में त्रिष्टुभ् हो।

यथा : *अददा अर्भां महते वचस्यवे।* ऋ. सं.1.51.13-14

- जागतस्त्वददा अर्भा प्रगाथस्त्रिष्टुबुत्तरः। ऋ.प्रा. 18-28

त्रैष्टुभ-जगत्युत्तर द्र. जगत्युत्तरत्रैष्टुभ।

त्रैष्टुभ-जागत द्र. जगत्युत्तरत्रैष्टुभ।

द

दन्त द्र. स्थान।

दन्तमूल द्र. स्थान।

दन्तमूलीय दन्तमूल से उच्चारित होने वाले वर्ण। दन्तमूल अर्थात् दन्तसंयुक्त प्रदेश में जिह्वाग्र करण से उच्चारित होने वाले वर्ण।

यथा : तवर्ग, स, र्, ल्, लृ, ल॰,लृ 3।

- दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः। ऋ.प्रा. 1.44
- सकार-रेफ-लकाराश्च। ऋ.प्रा. 1.45
- जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। तै.प्रा. 2.38
- दन्तमूलेषु च लकारे। तै.प्रा. 2.42
- स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण। तै.प्रा. 2.44
- रो दन्तमूले। वा.प्रा. 1.68
- लृलसिता दन्ते। वा.प्रा. 1.69
- दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्। च.अ. 1.24

विशेष[1] दन्तमूलीय वर्णों को वा.प्रा., ऋ.तं. और च.अ. 'दन्त्य' शब्द से अभिहित करते हैं।

विशेष[2] प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में 'रेफ' और रेफव्यतिरिक्त दन्तमूलीय ध्वनियों का पृथक्-पृथक् सूत्रों से निर्देश हुआ है,क्योंकि रेफ लकार-व्यतिरिक्त दन्तमूलीय ध्वनियों का करण जिह्वाग्र है, जबकि रेफ का जिह्वाग्रमध्य और लकार का जिह्वाग्रमध्य-प्रत्यक् होता है।

- जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। तै.प्रा. 2.38
- रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग् दन्तमूलेभ्यः। तै.प्रा. 2.41
- दन्तमूलेषु च लकारे। तै.प्रा. 2.42

ऋ.प्रा. के अनुसार कुछ आचार्यों के मत में रेफ दन्तमूलीय न होकर बर्स्व्य हैं। तै. प्रा. में 'लृ' को बर्स्व्य कहा गया है।

दन्त्य : द्र. दन्तमूलीय।

दीर्घ द्विमात्राकालिक। ह्रस्व से द्विगुण काल वाले स्वर।

यथा : आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ ए, ओ।

- अन्ये दीर्घाः। ऋ.प्रा. 1.18
- द्वे दीर्घः। ऋ.प्रा. 1.29
- द्विस्तावान् दीर्घः। तै.प्रा. 1.35 एवं वा.प्रा. 1.57
- द्वे दीर्घम्। ऋ.तं. 43
- द्विमात्रो दीर्घः। च.अ. 1.61
- द्विस्तावान् द्विगुणो ह्रस्वद्विगुणकालः वायसरूततुल्य-कालस्वरो दीर्घ-संज्ञो भवति। तै.प्रा.1.35 पर वै.भा.

तुल. उकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। पा.सू. 1.2.27

परा. द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्। ऋ.प्रा. 13.50

विशेष [1] दीर्घ शब्द 'लम्बा करना' अर्थ वाली 'द्राघ्'-धातु से निष्पन्न है। दीर्घ-स्वर ह्रस्व-स्वर से अधिक मात्रा वाले होते हैं।

- दीर्घं द्राघतेः नि. 2.6

विशेष [2] ऋ.प्रा., तै.प्रा. तथा च.अ. में दीर्घ 'ॡ' का निर्देश नहीं हुआ है।

दुस्पृष्ट दुःस्पृष्ट।

द्र. ईषत्स्पृष्ट।

द्रुतावृत्ति वृत्ति (उच्चारण-गति) का एक प्रकार। इस वृत्ति में उच्चारण-गति (मात्रात्मक या त्रिकलात्मक) होती है।

- द्रुतायां मात्रा। ऋ.तं. 31

विशेष द्र. वृत्ति।

द्रोणिका करण-विशेष, जिह्वा का द्रोणिकाकृत (पटुकाकृति) रूप। णकार के उच्चारण में प्रयुक्त होता है।

- णकारस्य द्रोणिका। च.अ. 1.23

द्विक्रम दो पदों का क्रम-वर्ग।

- ततोऽपरे सन्ध्यमवेक्ष्य कारणं तदर्थजं द्विक्रममत्र कुर्वते।।

ऋ.प्रा. 11.6

द्विपदा गायत्री गायत्री का एक भेद। बारह-बारह अक्षरों की दो जागत पाद वाली गायत्री।

यथा : *स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः।* ऋ.सं. 8.46.13

- स नो वाजेषु पादौ द्वौ जागतौ द्वपदोच्यते।

ऋ.प्रा. 16.26

द्विमात्र दो मात्रा वाला वर्ण (दीर्घस्वर)।

- द्विमात्रो दीर्घः। च.अ. 1.61

- पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्रः।

तै.प्रा. 22.13

परा. नित्यविरते द्विमात्रम्। ऋ.तं. 37

द्विरुदात्त : दो उदात्तों वाला पद।

यथा : *वृहस्पतिः।* शु.य. 17.40

वनस्पतिः। शु.य. 20.45

मित्रावरुणाभ्यां त्वा। शु.य. 7.23

– द्विरुदात्तानि। वा.प्रा. 2.46

– बृहस्पतिर्वनस्पतिर्नराशंस्तनूनप्त्रेतनूनपान्नक्तोषासोषा-
सानक्ताद्यावापृथिवीद्यावाक्षामा क्रतूदक्षाभ्यामेतवा
अन्वेतवा इति च। वा.प्रा. 2.47

– देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि। वा.प्रा. 2.48

द्विवत् दो व्यञ्जनों वाला शब्दांश।

परा. ष्मिणोर्द्विवतः। ऋ.तं. 245

– द्विवर्ति परे। ऋ.तं. 285

द्विवर्ण[1] वृद्धि।

यथा : *प्रैतु, अमितौजा।* सा.सं. 1.359

– सन्ध्यं द्विवर्णम्। ऋ.तं. 95

परा 2.18–19, तै.प्रा. 10.6–7। वा.प्रा. 4.58, च.अ. 3.5–51

तुल वृद्धिरेचि। पा.सू. 6.1.88

'द्विवर्ण' पारिभाषिक शब्द है किन्तु इसका लक्षण प्रातिशाख्यों में सूत्रमुख से नहीं किया गया है। ऋ.तं. के उपर्युक्त सूत्र की टीका में आए उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्विवर्ण वृद्धि-बोधक है।

द्विवर्ण[2] समान पद (एक पद) में स्वरों के मध्य में आवृत्त व्यञ्जन।

यथा : *व्यात्तम्, कुक्कुटः।* शु.य. 31.22, 1.16

– द्विवर्णमेकवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे।

वा.प्रा. 4.144

विशेष दो स्वरों के मध्य में विद्यमान आवृत्त व्यञ्जन का उच्चारण मुख में श्वास रोक कर एक वर्णवत् किया जाता है।

द्विवर्ण [3] द्वित्व, द्विरुक्त, द्वरुच्चारण, द्विर्वचन। विभिन्न प्रतिबन्धों के साथ किसी भी व्यञ्जन का दो बार उच्चारण करना।

यथा : *आज्ज्यमसि एकव्रता देवाः।* कृ.य. 1.6.1, 6.2.51

– स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णम्। तै.प्रा. 14.1

– ह्रस्वपूर्वो कारो द्विवर्ण-व्यञ्जनपरम्। तै.प्रा. 9.18

परा. तै.प्रा. 14.1-8; ऋ.प्रा. 6.1-7; वा.प्रा. 4.101, 11

तुल. पा.सू. 8.3.32

द्विषन्धि दो संधियों वाली विवृत्ति। विवृत्तियाँ जिनमें मध्यगत स्वरवर्णों के दोनों ओर स्वरों में सन्धियां प्राप्त हों।

यथा : *"अभूदु भा उ अंशवे"।* ऋ.सं. 1.46.10

यहाँ 'उ' के पूर्ववर्ती 'आ' के साथ और परवर्ती 'अ' के साथ सन्धियों के प्राप्त होने के कारण द्विषन्धि विवृत्ति है।

– द्विषन्धयस्तूभयतः स्वरस्वराः। ऋ.प्रा. 2.80

ध

धारण [1] अनुच्चारण (उच्चारणगत दोष)। पदादि संयुक्त वर्णों में आद्य घोष का अनुच्चारण (अनुपलब्धि)।

यथा : ह्वयामि। घोषवतामनुनादं पुरस्तादादिस्थानां क्रियते धारणं वा। ऋ.प्रा. 14.18

धारण [2] द्विर्वचन (द्वित्व) (उच्चारणगत दोष)। कतिपय आचार्यों के मत में पदादि संयुक्त वर्णों में आद्य घोष-वर्ण का द्विरुच्चारण होता है।

यथा - *ज्योतिष्कृत्* द्यावा। ऋ.सं. 1.50.4

– घोषवतां धारणं वा। ऋ.प्रा. 14.18

धारण [3] मुखसन्धारण-विशेष (उच्चारणगत दोष)। समानपदों में दो स्वरों के मध्यगत संयुक्त वर्णों का मुखसन्धारण (समानधारण) के

कारण एकवर्णवत् उच्चारण होता है।

यथा : *व्याप्तम्।* वा.सं. 31.22

कुक्कुरः। वा.सं. 1.16

– द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे।

वा.प्रा. 4.144

धृति बहत्तर अक्षरों वाला छन्द।

यथा : *सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न।* ऋ.सं. 4.1.3

– धृतिः पूर्वा द्विसप्ततिः। ऋ.प्रा. 16.85

ध्रुव अभिनिधान के पश्चात् नाद-आगम। सघोष अभिनिधान के पश्चात् श्रुत किन्तु अघोष अभिनिधान के पश्चात् अश्रुत नाद का आगम। इस नाद-विशेष का काल और स्थान वही होता है जो अभिनिधान का है।

यथा : *वाक् पतङ्गाय।* ऋ.सं. 10.189.3

यत्ते यमम्। ऋ.सं. 10.58.1

– नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम्।

अश्रुतित्वघोषात्। नासिकास्थानमनुनासिकाच्चेत्।

ऋ.प्रा. 6.39-41

विशेष ध्रुव की व्याख्या करते समय उब्बट ने किसी का श्लोकात्मक वक्तव्य उद्धृत किया है –

– ध्रुवकालनिर्देश्यमल्पत्वात् कवयोर्विदुः।

यदि प्रागणुमात्रायाः कालभेदेऽपि तत्समम्।।

नादोऽभिनिधानेन पीड्यमानो न नश्यति।

तस्मादुच्चार्यते तस्य यावद्वर्णात्मनः परम्।

एकान्तलोपं कवयो वर्णयन्ति ध्रुवस्य च।

नासिकास्थानं रक्तस्य तथा रूपेण निर्दिशेत्।।

सप्तमीकालनिर्दिष्टपूर्वस्य विधिरिष्यते।

पञ्चम्यास्तूत्तरस्याहुस्तस्मात्कृच्छ्रस्त्वणुर्भवेत्।।

द्र. ऋ.प्रा. 6.39 पर उ.भा. ।

ध्वान द्वितीय वाचस्थान। अक्षरों और व्यञ्जनों की अनुपलब्धि अर्थात् स्वर-वर्ण और व्यञ्जनों में भेद-ज्ञान का अभाव।

– अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः। तै.प्रा. 23.7

न

नत द्र. नति।

नति दन्त्य वर्णों का मूर्धन्यभाव (णत्व, षत्व)।

यथा : *गिरीणाम्। सा.सं. 1.143*

परिषिञ्चति। वा.सं. 20.28

– एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभावः। ऋ.प्रा. 5.61

– दन्तस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः। वा.प्रा. 1.42

विशेष वा.प्रा. तथा च.अ. में नति के लिए 'विनाम' तथा ऋ.प्रा. में 'नत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

– विनामे। वा.प्रा. 4.193

– विनामे च। च.अ. 4.34

– उष्मणि चानते। ऋ.प्रा. 4.34

नदति नादाख्य अनुप्रदान। अद्वारक आकाश, अर्थात् शिरोभाग को प्राप्त श्वसिति वायु।

– स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्नः आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति।

ऋ.तं., प्र.प्र.1 (द्र.- नाद)

नन्ता मूर्धन्यभावकारक वर्ण। नति में मूर्धन्यभाव करने वाला पूर्ववर्ती वर्ण, णत्व में (र, ऋ, ष) और षत्व में नामिन् (ऋ,ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ)।

यथा : *पितृयाणम्।* ऋ.सं. 10.2.7

- पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम्। ऋ.प्रा. 1.66

विशेष णत्व के प्रसंग में नन्ता का अव्यवहित होना आवश्यक है किन्तु णत्व के प्रसंग में नहीं।

नम्य वर्ण, जिनका मूर्धन्यभाव होता है। नति में मूर्धन्यभाव को प्राप्त करने वाला व्यञ्जन (न, स)।

यथा : *पितृयाणम्।* ऋ.सं. 10.2.7

नष्टरूपा अनुष्टुभ् अनुष्टुभ् का एक भेद। प्रथम चरण नौ, द्वितीय दश एवं तृतीय तेरह अक्षरों के होते हैं।

यथा : *वि पृच्छामि पाक्या न देवान्।* ऋ.सं.1.120.4

- तेषामेकाधिकावन्त्यौ नष्टरूपा वि पृच्छामि।

ऋ.प्रा.16.4

नाद अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न-विशेष)। कण्ठस्थानीय स्वरतन्त्रियों के सन्निकट होने की अवस्था में (कण्ठद्वार के बंद-सा हो जाने पर वायु के घर्षित होकर निकलने के कारण) उत्पन्न अनुरणनात्मक ध्वनि-विशेष, जो स्वर और घोषवर्णो का अनुप्रदान (मूलप्रकृति) नाद है।

- वायुः प्राणः। ऋ.प्रा. 13.1
- इतरेषां तु नादः। ऋ.प्रा. 13.5
- संवृते कण्ठे नादः क्रियते नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु।

तै.प्रा. 2.4, 2.8

- श्वासो नाद इति शाकटायनः, नादानुप्रदानाः स्वरघोषवन्तः।

ऋ.तं. प्र.प्र.1,3

- नादो घोषवत् स्वरेषु। च.अ. 1.13

तुल. वर्णोत्पत्त्यन्तरभावी अनुरणनरूपः शब्दः नादः।

म.भा. 1.1.19 पर उद्योत।

नाम संज्ञा, सत्त्व या द्रव्य (लिङ्ग-संख्या- कारक-वचनान्वित) का अभिधान करने वाला।

यथा : *गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ति* आदि।

- तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वम्। ऋ.प्रा. 12.18
- सत्त्वाभिधायकं नाम। ऋ.प्रा. 12.25
- क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
  सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणम्।।
  वा.प्रा. 8.55; द्र. च.अ. 1.1

तुल. सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त 1.1

- अनपेक्षितशब्दव्युत्पत्तीनि सत्त्वभूतार्थाभिधायिनी नामानि।
  शृङ्गारप्रकाश

विशेष नाम शब्द की व्युत्पत्ति 'नम्' धातु से की गयी है, जिसका अर्थ दो प्रकार से सम्भव है।

1. आख्यात अर्थात् क्रिया में विशेषण का होना।
2. जो अपने अर्थ को आख्यातार्थ के सामने गौण कर देता है- नमन्त्याख्यातशब्दे गुणभावेन नमयन्ति वा स्वमर्थम् नामानि। निरुक्त 1.1 पर दुर्गाचार्य

- तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। निरुक्त 1.1
- नामानि आख्यातजानि। निरुक्त 1.1
- नाम च धातुजमाह। पा.सू. 3.3.1 पर महाभाष्य।

नामिन् अ, आ, एवं इनके अतिरिक्त शेष दश स्वर-वर्ण। दन्त्य को मूर्धन्य बनाने वाले स्वर।

यथा : ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, ऐ, औ।

- ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः। ऋ.प्रा. 1.65

– नमयन्ति=दन्त्यं सन्तं मूर्धन्यं कुर्वन्तीति नामिनः।

ऋ.प्रा. 1.65 पर उ.भा.

विशेष ऋ.तं. और च.अ. में 'नामिन्' का नामतः विधान तो नहीं है पर इसका प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस परिप्रेक्ष्य में उक्त दोनों ग्रन्थ ऋ.प्रा. के विचार से सहमत हैं। किन्तु वा.प्रा. और तै.प्रा. में नामिन्-संज्ञा का न तो विधान किया गया है और न तो प्रयोग ही मिलता है।

नासिका द्र. स्थान।

नासिक्य नासिका से उच्चारित वर्ण।

1. हकार और ण, न, म के मध्य उच्चारित किए जाने वाले आगम वर्ण-विशेष।

यथा : *ब्रह्मवादिनः।* तै.सं. 1.7.1

अह्नां केतुः। तै.सं. 2.4.14

अपराह्णे। तै.सं. 2.1.2.2

यथा : नासिक्य (हुँ) यम- (कं खं गं घं)

अनुस्वार (ं)।

यथा: *पलिक्नीः।* ऋ.सं.5.2.4

जग्मतुः। ऋ.सं. 10.40.14

– अत्र यमोपदेशः। ऋ.प्रा. 1.50

मर्त्या ----- --विवेश। कृ.य. 5.7.9

शं नो देवीरभिष्टये। ऋ.सं. 10.9.4

– नासिक्ययमानुस्वारान्। ऋ.प्रा. 1.48

- स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः तान्यमान्येके। तै.प्रा. 21.12-13
- हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्। तै.प्रा. 21.14
- नासिक्याः नासिकास्थानाः। तै.प्रा. 2.49
- मुखनासिक्या वा। तै.प्रा. 2.50
- नासिक्याः। तै.प्रा. 21.8
- हुँ इति नासिक्यः। वा.प्रा. 8.23
- यमानुस्वार-नासिक्यानां नासिके। वा.प्रा. 1.74
- नासिक्यां यमानुस्वार-नासिक्याः। ऋ.तं. 12
- नासिक्यानां नासिका। च.अ. 1.26
- हकारान्नासिक्येन। च.अ. 1.100

विशेष [1] हकार और पञ्चमाक्षरों के मध्य आगत आगमस्वरूप नासिक्य ध्वनि के विषय में प्रातिशाख्यों के टीकाकारों में मतभेद होने के कारण इस ध्वनि के स्वरूप के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। इसीलिए ऋ.प्रा. 1.48 की व्याख्या में मङ्गलदेव शास्त्री ने ..... इति नासिक्यः, स्वीकार करते हुए चार पाठभेद भी दिखाए हैं - 1. .... हुँ इति नासिक्यः, 2. ऊँ इति नासिक्यः, 3. ... इति नासिक्यः तथा 4. ञ, म, ङ, ण, न इति नासिक्यः।

विशेष [2] वस्तुतः कुछ प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में और परवर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में भी अनुनासिक तथा नासिक्य ध्वनि के स्वरूप और चिह्न के विषय में विसंवाद रहा है।

- 'हुँ इत्यनुनासिकः'। ऋ.तं. 1.2।

- सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः।

तै.प्रा. 12.14 (त्रिभा.र.)

महाभाष्यकार के अनुसार शिवसूत्र 5, वार्तिक 5 में नासिक्य के पाठ के स्थान पर हस्तलेखों में तीन प्रकार के पाठ मिलते हैं- 1. नासिक्य, 2. आनुनासिक्य तथा 3. दोनों का अभाव।

विशेष[3] नव्य वैयाकरणों के अनुसार नासिक्य तथा आनुनासिक दोनों शब्दों से व्यक्त अर्थ गुण, धर्म, चिह्न तथा (पञ्चम) वर्ण की दृष्टि से अभिन्न है।

निगार अनुनासिक ध्वनिविशेष। ध्वनि जो ह्, म् एवं नासिक्य के संयोग से उत्पन्न है, जिसका कोई उच्चारण-स्थान नियत नहीं है।

- अविशेष-स्थानौ संस्वाद-निगारौ। ऋ.तं.11

हकार-मकार-नासिक्या वा निगारे। स्वोपज्ञव्याख्या

निचृत् गायत्री आदि निश्चित अक्षरों वाले छन्दों की एक अक्षर न्यून होने पर निचृत्-संज्ञा होती है।

यथा : *यः शुक इव सूर्यः इति निचृत्।* ऋ.सं.1.43.5

- एकद्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भूरिक्। ऋ.प्रा.17.2

निपात पादपूरक (अपि, च, वा आदि)। नाम, आख्यात और उपसर्ग से अन्य पद जो पादपूरक होने पर निरर्थक और अन्यत्र सार्थक होते हैं। इनकी कोई नियत संख्या नहीं बताई गई है।

यथा : 'किं स्विद्' में पादरपूरण के लिए प्रयुक्त 'स्विद्' निरर्थक होता है।

- इतरे निपाताः ऋ.प्रा. 12.21
- निपातः पादपूरणः। ऋ.प्रा. 12.25, वा.प्रा. 8.55
- निपातानामर्थवशान्निपातनादनर्थकानामितरे च सार्थकाः नेयन्त इत्यस्ति सख्येह वाङ्मये मिताक्षर चाप्यमिताक्षरे च ये। द्र. च.अ.

तुल. उच्चावच्चेऽर्थेषु निपतन्ति। निरुक्त 1.2

अयोगवाह अथायोगवाहा:।

अः इति विसर्जनीयः। क इति जिह्वामूलीयः। प इत्युपध्मानीयः। गुं इति धुमिति यमाः। अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ। ऋ.तं., प्र.प्र. 2।

– अथायोगवाहा:। क इतिजिह्वामूलीयः। प इत्युपध्मानीयः। अं इत्यनुस्वारः। अः इति विसर्जनीयः। हुँ इति नासिक्यः। कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः। वा.प्रा. 8.18-24

निमद तृतीय वाचस्थान। अक्षरों और व्यञ्जनों की उपलब्धि, अर्थात् इस तृतीय वाचस्थान में प्रयोक्ता को तो स्वरवर्ण और व्यञ्जन वर्णों का भेदज्ञान होता है किन्तु अन्य (श्रोता) को नहीं।

– उपलब्धिर्निमदः। तै.प्रा. 23-8

नियतसन्धि [1] पदादि सघोष व्यञ्जन होने पर पदान्त अरिफित विसर्जनीय का लोप तथा उपधा का दीर्घ होना।

यथा : *पुनानायन्त्यनिविशमाना:।* ऋ.सं. 7.49.1

– विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्परः। ऋ.प्रा. 4.24

नियतसन्धि [2] पदादि रेफ होने पर ह्रस्व-स्वरपूर्वक रिफित विसर्जनीय का लोप तथा उपधा का दीर्घ होना।

यथा : *प्रातारत्व प्रातरित्वा।* ऋ.सं. 1.125.1

– द्राघितोपधा ह्रस्वस्य। ऋ.प्रा. 4.29

– दीर्घ च पूर्वः। तै.प्रा. 8.17

– रेफे लुप्यते दीर्घञ्चोपधा। वा.प्रा. 4.36

निरस्त स्थान -प्रयत्नगत दोष (वर्णगत उच्चारण दोष)। किसी वर्ण का अपने उच्चारण-स्थान अथवा प्रयत्न से यथावत् उच्चारित न होना।

– निरस्तं स्थानकरणापकर्षे। ऋ.प्रा. 14.2

निर्भुज संहिता-पाठ। संहिता-पाठ में सन्धियुक्त (अक्षरों या पदों का) स्थलों का विच्छेद-रहित उच्चारण।

- सन्धेर्विवर्तनं निर्भुजं वदन्ति। ऋ.प्रा. वि.वृ.- 3

- निर्भुजं संहिताध्ययनमुच्यते। ऋ.प्रा. वि.वृ. (क)

तुल. यद्धि सन्धि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्।

ऐ.आ. 3.1.3 पर सा.भा.

1. निर्भुजशब्दः संहितावाची। ऐ.आ. 3.1.3 पर सा.भा.
2. निर्दिष्टौ भुजसदृशौ पूर्वोत्तरशब्दौ यस्मिन् संहितारूपे तदुच्चारणं निर्भुजम्। ऐ.आ. 3.1.3 पर सा.भा.

नीचैस्तर- अनुदात्ततर। उस स्वरित के ह्रस्वार्धकाल

यथा - सखिभ्योवरिवः। तै.सं.3.3.11

तिष्यः। तै.सं.2.2.10

- अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। तै.प्रा.1.44

न्यङ्कुसारणी बृहती छन्द का एक भेद। इस छन्द के द्वितीय पाद बारह अक्षर एवं शेष तीन पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं।

यथा- *मत्स्यपायि ते महः।* ऋ.सं. 1.175.1

द्वितीयेन्यङ्कुसासारिणी ऋ.प्रा. 16.46

न्यस्ततर अनुदात्ततर। बाद वाले दो 'प्लुत' (अक्षरों) की अन्तिम मात्रा 'प्रचय' 'स्वर' में (विद्यमान होने पर) 'अनुदात्ततर' (न्यस्ततर) उच्चारित होती है।

यथा : *उपरि स्विदासी इत्।* ऋ.सं. 10.129.5

- त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि प्रचयस्वरे मात्रा न्यस्ततरैकेषाम्।

ऋ.प्रा. 3:27

विशेष[1] ऋ.प्रा., तै.प्रा. तथा ऋ.तं. में 'अनुदात्त' के लिए 'नीच' शब्द का प्रयोग हुआ है।

- स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।

ऋ.प्रा., वि.वृ. 6

- स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै.प्रा. 19.1
- उन्नीचे मे नीचमुच्चात्। ऋ.तं. 54,55
- न्यस्ततर अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। तै.प्रा.1.44

तुल. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः। पा.सू. 1.2.40

- सन्नं दृष्ट्वा सन्नतरः इत्येतद् भवति।

पा.सू. 1.2.33 पर म.भा.

विशेष [2] न्यस्ततर को तै.प्रा. में नीचैस्तर एवं पाणिनि तथा पतञ्जलि ने 'सन्नतर' कहा है, जबकि उब्वट ने 'नीचतर' और भट्टोजि दीक्षित ने अनुदात्ततर कहा है।

- न्यस्ततरा नीचतरा। ऋ.प्रा. 3.27 पर उ.भा.
- उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् तस्यानुदात्तस्यानुदात्ततरः स्यात्। पा.सू. 1.2.40 पर सि.कौ.

न्याय सामान्य विधि। विस्तृत क्षेत्र तक प्रवृत्त होने वाला नियम (सामान्य नियम)।

यथा : अनुलोम अन्वक्षर सन्धि (सामान्य नियम) में *"मक्षुऽमक्षु। कृणुहि"*। ऋ.प.पा. 3.31.20

ह्रस्व उकार सामवश सन्धि (अपवाद) में दीर्घ ऊकार को प्राप्त होकर "मक्षू मक्षू कृयुहि" (संहितापाठ) हो जाता है।

- न्यायैर्मिश्रानपवादान्प्रतीयात्। ऋ.प्रा. 1.5.31
- न्यायाः=उत्सर्गाः=महाविषया विधयः।

ऋ.प्रा.1.53 पर उ.भा.

- उत्सर्गश्च। वा.प्रा. 4.181
- न्याये नौदव्रजिः। ऋ.तं. 7

न्यूङ्ख प्रातरनुवाक में पठनीय षोडश ओंकार।

परा. नितरामत्यन्तविषमप्रकारेणोङ्खनमुच्चारणं न्यूङ्खः। आश्वलायन श्रौतसूत्र अष्टमाध्याय। सा.भा.

प

पकार ओष्ठ्ये वो पू. ऋ.तं. 9

– ओष्ठ्यस्थाना–ओकार–औकार–उपध्मानीय–पकार–उकार–ऊकाराः। (स्वोपज्ञवृत्ति)

पङ्क्ति प्रथम (सप्तक) वर्ग का चतुर्थ छन्द। यह आठ–आठ अक्षरों से युक्त पाँच चरणों वाला छन्द है।

यथा : *इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।* ऋ.सं. 1.81.1

– पङ्क्तिरष्टाक्षराः पञ्च। ऋ.प्रा. 16.54

विशेष लोक में पङ्क्ति दश अक्षरों वाली प्रसिद्ध है। किन्तु ऋ.प्रा. में दश अक्षरों वाली पङ्क्ति को विराट् पङ्क्ति कहते हैं।

– चत्वारो दशका विराट्। ऋ.प्रा. 16.55

पञ्चकला विलम्बिता वृत्ति में वर्णकाल सपाद मात्रा वाला होता है।

– सपाद मात्रा। पञ्चकला विलम्बितायाम्। ऋ.तं. 33

पञ्चपदी सुबन्त के प्रथम पाँच कारकप्रत्यय, जो पुलिङ्ग हों।

यथा : सु, औ, जस्, अम्, औट्।

वस्वन्तस्य पञ्चपद्याम्। च.अ. 1.88

विशेष पाणिनि ने पञ्चपदी के लिए 'सर्वनामस्थान' पद का प्रयोग किया है जो पुंलिङ्ग के साथ स्त्रीलिङ्ग प्रत्ययों को भी संगृहीत करता है।

द्र. सुडनपुंसकस्य। पा.सू. 1.1.43

पञ्चाल पदवृत्ति उद्ग्राह-सन्धि में ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय के स्थान पर आगत पदान्त 'ओकार' के पश्चात् 'अकार' होने पर दोनों का अविकृत रहना।

यथा: *पुरोडाशम् यो अस्मै।* ऋ.सं. 8.31.2

- उद्ग्रहाणां पूर्णरूपाण्यकारे पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति। ऋ.प्रा. 2.33
- स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेषामर्धसदृशमेकेषाम्। तै.प्रा. 11.19
- प्रकृतिभाव ऋक्षु। वा.प्रा. 4.82
- जुषाणश्चानध्वनि। वा.प्रा. 4.83
- क्वचित् प्रकृत्या। च.अ. 3.54
- अयवाये न्यूने। ऋ.तं. 76

तुल. प्रकृत्या अन्तःपदमव्यपरे। पा.सू. 6.1.115

विशेष [1] ऋ.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में पञ्चालपदवृत्ति संज्ञा का प्रयोग नहीं है किन्तु इस सन्धि का विधान किया गया है।

विशेष [2] यह सन्धि अभिनिहित सन्धि का अपवाद है।

पद अर्थाभिधायक अक्षर या अक्षर-समूह, सार्थक अक्षर या अक्षरसमूह।

यथा : '*इन्द्र आ याहि*'। वा.सं. 20.87

वाजः च मे। वा.सं. 18.1

- अर्थः पदम्। वा.प्रा. 3.2
- अक्षरसमुदायः पदम्। वा.प्रा. 8.50
- अक्षरं वा। वा.प्रा. 8.51

तुल. पदमर्थे प्रयुज्यते, विभक्त्यन्तं च पदम्।

पा.सू. 1.2.64 पर वार्तिक 19 (म.भा.)

- पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्। पा.सू. 1.1.20 पर म.भा।

- पदशब्देनार्थ उच्यते पा.सू.1.2.42, वार्तिक-2 पर कैयट

विशेष जिसके द्वारा अर्थ का अवगम हो, वह अन्वर्थसंज्ञा पद कहलाता है।

- पद्यते गम्यते अर्थः अनेनेति पदमित्यन्वर्थसंज्ञः।

पा.सू. 3.42 पर न्यास

पदपङ्क्तिर्गायत्री [1] गायत्री छन्द का एक भेद। जिसमें पाँच-पाँच अक्षरों के पाँच चरण हों तो पदपङ्क्ति गायत्री होती है।

यथा : *अधाह्यग्ने ऋतो भद्रस्य दक्षस्य साधोः।*

रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूव। ऋ.सं. 4.10.2

- पञ्चकाः पञ्च षड्वान्त्यः पदपङ्क्तिर्हि सा भूरिक्।

ऋ.प्रा. 16.18

पदपङ्क्तिर्गायत्री [2] गायत्री छन्द का एक भेद। जिसमें एक चरण चार अक्षरों का, दूसरा छह अक्षरों का तथा शेष चरण पाँच-पाँच अक्षरों के होते हैं वह (भी) पदपङ्क्ति गायत्री होती है।

यथा : *धृतं न पूतं तनू रपेपा शुचि हिरण्यम्।*

तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः। ऋ.सं. 4.10.6

- द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः।

ऋ.प्रा. 16.18

पदविराम द्र.- विराम।

पदवृत्ति पदादि स्वर होने पर पदान्तीय दीर्घ स्वरोपध अरिफित विसर्जनीय तथा पदान्तीय 'ऐ' और 'औ' का 'आकार' हो जाना।

यथा : *याः। औषधीः। सोमराज्ञी। =या ओषधीः सोमराज्ञीः। सूर्याय पन्थानम्। अनुऽएतवै। ऊँ इति सूर्यायपन्थामन्वेतवा उ। उभौ=ऊँ इति। नुनम्=उभा उ नुनम्।*

ऋ.सं. 10.97.18, 1.24.8, 10.106.1

– विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदयः आकारम्।

ऋ.प्रा. 2.24

– उत्तमौ च द्वौ स्वरौ। ऋ.प्रा. 2.25

– ताः पदवृत्तयः। ऋ.प्रा. 2.26

विशेष 'पदवृत्ति' का 'वृत्ति' शब्द 'विवृत्ति' का बोधक है।

पदसंहिता पदसंयोग (पदसन्निधान)। एक से अधिक पदों का सन्निधिरूप संयोग।

यथा : *मिथुनश्चरन्तं।* तै.सं. 4.7.15

स ई मन्द्रसु प्रयसः। तै.सं. 4.1.8

– नानापदसन्ध्यानसंयोगः पदसंहिता। तै.प्रा. 24.3

पदान्तीय पदान्त में उपदिष्ट वर्ण। चकार और अकार को छोड़कर प्रत्येक वर्ग का प्रथम और अन्तिम वर्ण, विसर्जनीय, लृकार को छोड़कर अन्य स्वर पदान्तीय होते हैं तथा णकार और ऋकार अवग्रह (पृथक्करण) में भी पदान्तीय कहे गये हैं।

यथा : *प्राक्, विराट्, यत्, त्रिष्टुभ्, प्राङ्, त्रीन्, तम्, यज्ञम्, अग्निः, मित्रावरुणा, सुचि, मधु, पूषण्वान्। पितृसदनाः, अप्ऽसु, पञ्चऽभि, गोऽमत, प्रथमोत्तमाः पदान्तीया अच्चौ।।*

वा.प्रा. 1.85

- विसर्जनीयः। वा.प्रा. 1.86

- स्वराश्च लृकारवर्जम्। वा.प्रा. 1.87

विशेष च.अ. में पद के अन्त में आने वाले वर्णों को 'पद्य' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

- पदान्त्यः पद्यः। च.अ. 1.3

पद्य सावग्रह पद का एक भाग। सावग्रह पद के दो भागों में से प्रत्येक भाग।

यथा : पञ्चऽभिः, अप्ऽसु, घृष्णुऽयः इत्यादि।

- पद्यं पदार्थम्। ऋ.प्रा. 3.25 पर उ.भा.

- यत्र यस्मिन् पदे (पद्याः) सावग्रहं भवति। ऋ.प्रा. 2.12 पर उ.भा.

पयः विराट् धृति। द्र. ताराड्।

पर द्र. उत्तर।

परा द्वे करणे। वा.प्रा. 1.11

- स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। ऋ.तं., प्र.प्र. 3

- करणमध्यं तु विवृतम्। तै.प्रा. 2.45

तुल. स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। पा.सू. 1.1.10 पर म.भा, वा. 3

परमाणु मात्राकाल। एक के आठवें भाग वाली ध्वनि। अणु या काल की अर्द्ध मात्रा काल वाली ध्वनि, जो असंयुक्त दो वर्णों का मध्य- विराम-रूप होती है।

- परमाण्वर्धाणुमात्रा। वा.प्रा. 1.61

- वर्णान्तरं परमाणु। ऋ.तं.

परमेष्ठी विराट् त्रिष्टुभ्। द्र. ताराड्।

परिग्रह पदपाठ में मध्य में 'इति' रख कर पद को दोहराना।

यथा : *सत्यानृते इति सत्यानृते।* ऋ.सं. 7.49.3

परिग्रहः = वेष्टकः (इति को मध्य में रखकर दोहराना) ऋ.प्रा. 3.23 पर उ.भा.

विशेष[1] ऋ.प्रा. 10.15 तथा 11.27 में परिग्रह के लिए 'चोदक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उब्बट के अनुसार परिग्रह और चोदक ये दोनों समानार्थक हैं।

– चोदकः परिग्रह इत्यनर्थान्तरम्।

ऋ.प्रा. 10.15 पर उ.भा.

विशेष[2] ऋ.प्रा. 15.16 में चर्चा शब्द का आख्यात रूप में प्रयोग भी परिग्रह के अर्थ में हुआ है।

विशेष[3] च.अ. में परिग्रह के लिए परिहार शब्द का प्रयोग हुआ है।

–प्रगह्यावगृह्यसमापाद्यान्तर्गतानां द्विर्वचनं परिहार इति मध्ये।

च.अ. 4.117

विशेष[4] वा.प्रा. में परिग्रह के लिए 'चर्चा'-संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

यथा : *सुप्राव्य इति सु प्रऽअव्यः।* ऋ.सं. 1.4.8

यहाँ अवधेय है कि चर्चा में पहले तो समस्त पद को अवग्रह-रहित दिखलाया जाता है, फिर 'इति' जोड़कर उस समस्त पद का पुनरुच्चारण अवग्रह-सहित किया जाता है।

– *प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु।* वा.प्रा. 4.18

परिपन्न पदादि रेफ और ऊष्म वर्ण होने पर पदान्त अकार का अनुस्वार या म-लोपपूर्वक पूर्वस्वर का अनुनासिक होना।

यथा : *होतारम्। रत्नऽधातमम्=होतारं रत्नधातमम्।* ऋ.सं 1.1.1

यथा : *प्रत्युष्टम्=रक्षः=प्रत्यष्टम् रक्षः।* कृ.य. 1.1.2

- रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः। ऋ.प्रा. 4.15
- अथ मकारलोपः। रेफोष्मपरः। तै.प्रा. 13.1-2
- नकारस्य रेफोष्मयकार-भावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः। तै.प्रा. 15.1
- अनुस्वारं रोष्मसु मकारः। वा.प्रा. 4.1
- नकार-मकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः। च.अ. 1.67

तुल. मोऽनुस्वारः। पा.सू. 8.3.23

विशेष ऋ.प्रा. तथा वा.प्रा. के अनुसार पदान्त मकार का बिना लोप-निर्देश के अनुस्वार विधान है। किन्तु तै.प्रा. और च.अ. के अनुसार मलोपपूर्वक पूर्वस्वर का अनुनासिक विधान है।

परिहार द्र. परिग्रह।

परीमाण मात्राकाल।

अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात्।
जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमादिति।। तै.प्रा. 23.2

पर्वन् पद।

- पर्वशब्देन पदमुच्यते। वा.प्रा. 1.138 पर उ.भा.
- अञ्चति जरत्पर्वसु। च.अ. 4.53

पाङ्क्त काकुभ ऐसा प्रगाथ जिसके पूर्व में ककुभ् एवं अन्त में पङ्क्ति छन्द हो।

यथा : *अदान्ये पौरुकुत्स्यः।* ऋ.सं. 8.19.36-37

- पङ्क्त्यन्तःपाङ्क्त काकुभः। ऋ.प्रा. 18.8

पाद एक पद, दो पद, तीन पद, चार पद तथा अनेक पदों वाली वैदिक ऋचा का पाद या भाग।

यथा : *एकपदः हृदि स्पर्शम्, द्विपदः क्रतोः भद्रस्य।*

त्रिपदः अग्ने तम् अय। चतुष्पदः विश्वेभिः सुमना अनीकैः। शु.य. 1544, 1545, 1544, 1546

– एकपद-द्विपद-त्रिपद-चतुष्पदानेकछन्दपदाः पादाः।

वा.प्रा. 1.157

पादनिचृत् गायत्री गायत्री छन्द का एक भेद। सात-सात अक्षरों के तीन चरण हों तो पादनिचृत् गायत्री होती है।

यथा : *युवाकु हि शचीनां।* ऋ.सं. 1.17.4

– युवाकु हीति गायत्री त्रय सप्ताक्षरा विराट्।

सैषा पादनिचृन्नाम गायत्रैवैंकविंशिका। ऋ.प्रा.16.21

पिपीलिकमध्यमा बृहती बृहती छन्द का एक भेद। दो चरण तेरह-तेरह अक्षरों के एवं मध्य का एक चरण आठ अक्षरों वाला होता है।

यथा : *अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय।* ऋ.सं. 8.46.14

– त्रयोदशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चाष्टाक्षरो भवेत्।

अभि वो वीरमित्येषा सा पिपीलिकमध्यमा।।

ऋ.प्रा.16.52

पिपीलिकमध्या अनुष्टुभ् अनुष्टुभ् का एक भेद। आदि एवं अन्त के चरणों में बारह-बारह अक्षर तथा मध्य के चरण में आठ अक्षर होते हैं।

यथा : *पर्युषु प्र धन्व वाजसातये।* ऋ.सं. 9.110.1

– यस्यास्त्वष्टाक्षरो मध्ये सा पिपीलिकमध्यमा।

ऋ.प्रा.16.39

पिपीलिकमध्या उष्णीक् उष्णीक् का भेद। इसमें प्रथम और अन्तिम पाद ग्यारह–ग्यारह अक्षरों वाले तथा मध्य का पाद आठ अक्षरों वाला होता है।

यथा : *हरी यस्य सुयुजा विव्रता वे:।* ऋ.सं.10.105.2

– एकादशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चैक: षडक्षर:।

उष्णीक् पिपीलिकमध्या हरी यस्येति दृश्यते।

ऋ.प्रा.16.34

पीडन संकोच (वर्णगत दोष)। वर्णों के उच्चारण–काल में स्थान और करण का संकोच (संहार) करना। अर्थात् सम्बद्ध वर्ण के उच्चारण में स्थान और करण के संकोच होने पर आधे भाग से उच्चारण होने के अनन्तर दूसरे आधे भाग से उच्चारण होने का प्रसङ्ग आने से वर्ण का द्विरुच्चारण (द्विर्भाव:) हो जाता है।

– विहारसंहारयोर्व्यासपीडने। ऋ.प्रा. 14.3

– स्थानकरणयो: (विहारसंहारयोर्व्यासपीळने) विहारे व्यासो नाम दोषो जायते, संहारे पीडनं च। व्यासोऽविवेक:। संहारे पीडनम् द्विर्भाव:।

ऋ.प्रा. 14.3 पर उ.भा.

पुर उष्णीक् उष्णीक् छन्द का भेद। इसमें प्रथम चरण में बारह अक्षर तथा शेष दो चरणों में आठ–आठ अक्षर होते हैं।

यथा : *तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्।* ऋ.सं. 7.66.16

– पुर उष्णीक् तु सा तस्मिन् प्रथमे मध्यमे ककुप्।

ऋ.प्रा. 16.30

पुरस्ताद् बृहती बृहती छन्द का एक भेद। इसमें प्रथम पाद बारह अक्षरों का, शेष तीन पाद आठ–आठ अक्षरों के होते हैं।

यथा : *महो यस्पति: शवसो असाम्या।* ऋ.सं.10.22.3

– पुरस्ताद् बृहती नाम प्रथमे द्वादशाक्षरे। ऋ.प्रा.16.46

पूर्व पहले आने वाला वर्ण या पद।

– पूर्व इति पूर्वः। तै.प्रा. 1.29

परा. ऋ.तं. 20, च.अ. 4.121

पूर्वशास्त्र शास्त्र का पूर्वभाग।

– न पूर्वशास्त्रे न पूर्वशास्त्रे। तै.प्रा. 19.5

इस सूत्र के पूर्व का भाग।

– एवं वा सूत्रार्थः पूर्वशास्त्रे अध्यायप्रथमसूत्रे।

तै.प्रा. 19.5 पर त्रिभा.र.

विशेष वैदिकाभरण के टीकाकार का आशय पूर्वशास्त्र का अर्थ इसी शास्त्र के मूलभूत व्याकरण से है।

– अस्य शास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते।
तै.प्रा. 19.5 पर वै.भा.

पृक्तस्वर पुनरुक्त ऋकार, लृकार। ऋकार, लृकार जो क्रमशः रकार, लकार से संपृक्त (संयुक्त) हैं।

पृक्तस्वरो नाम ऋकारः लृकारश्च रेफ-लकारसंपृक्तत्वात्।
तै.प्रा. 13.16 पर वै.भा.

प्रकृति द्र. प्रकृतिभाव।

प्रकृतिः तृतीय वर्ग का चौरासी अक्षरों वाला अतिच्छन्द।

यथा : *ध्रुवं पूर्वाण।* तुल.प्रै. पृ. 124-125

– कृतिः प्रकृतिः। ऋ.प्रा.16.89

प्रकृतिभाव सन्धि का अभाव। सन्धि प्राप्त होने पर शास्त्र द्वारा सन्धि का निषेध।

यथा : *इन्द्रौ इति।* अ.सं. 4.25.3

इन्द्राग्नी इति। ऋ.सं.

- अपृक्तसंज्ञक उकारः स्वरपरः प्रकृत्याऽवतिष्ठते।

- अविकृतो भवतीत्यर्थः। तै.प्रा. 9.16 पर त्रिभा.र.

परा. प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः। ऋ.प्रा. 2.51

- प्रकृतिभाव ऋक्षु। वा.प्रा. 4.82

- प्रगृह्याश्च प्रकृत्या। च.अ. 3.33

- प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। तै.प्रा. 24.5; ऋ.प्रा. (वि.वृ. 5)

प्रगाथ छन्दःसमुदाय। दो या तीन छन्दों का समुदाय। प्रगाथों की आकृति प्रायः आदि के छन्दों के नाम पर आधृत हैं।

- प्रगाथ्यते सम्मेल्यते छन्दसा छन्द इति प्रगाथः।

षड्गुरुशिष्य। 'ऋक्' सर्वानुक्रमणीं-

- आकृतिर्व्यपदेशानां प्राय आदित आदित। ऋ.प्रा. 18.4

प्रगृहीत पदसन्धि प्रकृतिभाव सन्धि-विशेष। पदान्तीय एवं पदादि स्वरवर्णों का सन्धि प्राप्त होने पर अविकृत रहना।

यथा : *इन्दो इति।* अ.सं. 4.25.3

अतप्यमाने अवसावन्ती। अनु. ऋ.सं. 1.185.4

- सहोदयास्ताः प्रगृहीतपदाः सर्वत्रैव। ऋ.प्रा. 2.54

विशेष ऋ.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में प्रगृहीत पद-संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है।

प्रगृह्यः प्रकृतिभाव में गृहीत स्वर। पूर्ववर्ती स्वर, जिसका परवर्ती स्वर के साथ सन्धि न हो, की निम्न स्थितियाँ बनती हैं-

1. **ओकार**

(क) पदान्त ओकार (सामान्य उ-स्थानिक)

यथा : *एषो उषा अपूर्व्या।* ऋ.सं. 1.46.1

एषा उ, उषाः (एषो उषाः)। सा.सं. 1.178

- पदं चान्यः। ऋ.प्रा. 1.69
- ओकारोऽसाꣳहितोऽकार व्यञ्जनपरः। तै.प्रा. 4.6
- ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः। वा.प्रा. 1.94
- ओकारान्तश्च। च.अ. 1.80
- ओ भूतं च। ऋ.तं. 70

तुल. ओत्। पा.सू. 1.1.15।

(ख) ओकारान्त सम्बोधन, अनार्ष 'इति' पर में रहने पर।

यथा: *इन्दो इति।* चित्रभानो इति। अ.सं. 4.25.3

- ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः। ऋ.प्रा. 1.68
- आमन्त्रितं चेतावनार्षे। च.अ. 1.81

तुल. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। पा.सू. 1.1.16

(ग) स, म, ह, द, थ, पित्-पूर्वक अनवग्रह पदान्त ओकार, स्वर अथवा व्यञ्जन पर में रहने पर।

यथा : *सो एवैषैतस्य।* तै.सं. 2.2.9

मा भेर्माऽरो मो एषाम्। तै.सं. 4.5.10

- समहदथपित्पूर्वश्च। तै.प्रा. 4.7

(घ) पाद के मध्य में पदान्त 'ओकार' जिसके पर में अकार हो किन्तु वह 'व'-परक न हो।

यथा : *प्रेष्ठं वो अतिथिम्।* साम सं. 1.5

अयवावे न्यूने। ऋ.तं. 76

(ङ) समस्त पद में पूर्व-पदान्त 'ओकार' प्रगृह्य नहीं होता है।

यथा : *यदहं गोपतिः स्याम्।* ऋ.सं. 8.14.2

(च) सावग्रह ओकार प्रगृह्य नहीं होता।

यथा : *सोऽब्रवीत्।* तै.सं. 2.1.2

- अपूर्वपदान्तगश्च। ऋ.प्रा. 1.70
- ओकारोऽसाहितो.। तै.प्रा. 4.6
- ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः। वा.प्रा. 1.94
- लुबन्यः। ऋ.तं. 83

2. ईकार

(क) *द्विवचनान्त ईकार*

इन्द्रावृहस्पती वयम्। ऋ.सं. 4.49.5

उभे यदिन्द्र रोदसी आह। साम.सं.1.379

- षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः। ऋ.प्रा.1.71
- एकारेकारोकारा द्विवचनान्ताः। वा.प्रा. 1.93
- द्वयर्थे। ऋ.तं. 74
- द्विवचनान्तौ। च.अ. 1.75

तुल. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा.सू. 1.1.11

(ख) सप्तम्यंर्थ ईकार।

यथा : *दृतिं शुष्कं सरसी शयानम्।* ऋ.सं. 71.3.2

यहाँ 'सरसी' सप्तम्यर्थ में प्रयुक्त है।

- साप्तमिकौ च पूर्वौ। ऋ.प्रा. 1.72
- ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे। च.अ. 1.74

तुल. ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। पा.सू. 1.1.19

(ग) बहुवचनान्त ईकार

यथा : *अमी अमी ये पञ्चोक्षणः।* ऋ.सं. 1.105.10

- अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः। ऋ.प्रा. 1.73
- अमी पदम्। वा.प्रा. 1.98
- अमी चक्षुषी कार्ष्णी देवताफल्गुनी, मुष्टी धी नाभी वपाश्रपणी अहनी जन्मनी सुम्नी सामनी वैष्णवी ऐक्षवी दर्वी द्यावापृथिवी।। तै.प्रा. 4.12
- अमी बहुवचनम्। च.अ. 1.78

तुल. अदसो मात्। पा.सू. 1.1.12

(घ) पदान्त ईकार

यथाः *चक्षुषी वा एते।* तै.सं. 2.6.2

कार्षणी उपानहौ। तै.सं. 5.4.4

- अमी चक्षुषी.। तै.प्रा. 4.12, 4.13, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 22, 23, 24

(ङ) 'कि' के बाद 'इन' तथा 'वी' के बाद 'उत्'।

यथा : *न कि इन्द्र।* सा.सं. 1.203

पृथवी उत् द्यौः। सा.सं. 51

- कि- इन-वी-उत् । ऋ.तं. 88

(च) 'ची' का अन्त स्वर 'यत्' या 'प्र' बाद में रहने पर।

यथा : *'तिरश्ची यत्'।* तै.सं. 6.2.1

- ची यत्प्रपरः। तै.प्रा. 4.33

3. ऊकार

(क) द्विवचनान्त।

यथा : *इन्द्रवायु इमे सुताः।* ऋ.सं. 1.2.4

– षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः। ऋ.प्रा.1.71

– एकारेकारोकारा द्विवचनान्ताः। वा.प्रा. 1.93

– द्विवचनान्तौ। च.अ. 1.75

– द्व्यर्थे। ऋ.तं. 74

तुल. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा.सू. 1.1.11

(ख) सप्तम्यर्थ ऊकार।

यथा : *सोममिन्द्र चमू सुतम्।* ऋ.सं. 8.76.10

– *साप्तमिकौ च पूर्वौ।* ऋ.प्रा. 1.72

– *ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे।* च.अ. 1.74

– चमू *अस्मे त्वे।* वा.प्रा. 1.96

तुल. ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। पा.सू. 1.1.19

(ग) पदान्त ऊकार।

यथा : *हनू वा एते।* तै.सं. 6.2.11

बाहू उपस्तुते। तै.सं. 4.2.8

– ऊकारः। तै.प्रा. 4.5

4. उकार

(क) अपृक्त उकार।

प्रगृह्य होने पर सानुनासिक दीर्घ होता है।

यथा : *ऊँ मन्वेतवा न वा उ एतत्।* वा.सं. 23.16

– उकारोऽपृक्तः। वा.प्रा. 1.95

(ख) अपृक्त उकार। 'इति' शब्द बाद में हो तो

प्रगृह्य होने पर सानुनासिक दीर्घ होता है।

यथा : ऊँ इति ।

- उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन।
ऋ.प्रा. 1.75

तुल. उञः। पा.सू. 1.1.17

यथा : *तमु अभिप्रगायत।* सा.सं. 1.382

- दमु। ऋ.तं. 69

5. एकार

(क) द्विवचनान्त एकार।

यथा : *द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे।* ऋ.सं. 1.95.1

- षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः।
ऋ.प्रा. 1.71

- एकारेकारकोकाराः द्विवचनान्ता। वा.प्रा. 1.93

- अथैकारेकारौ। तै.प्रा. 4.8; 4.9-11

- एकारश्च। च.अ. 1.76

- द्व्यर्थे। ऋ.तं. 74

(ख) अस्मे, युष्मे त्वे अमी।

यथा : *अस्मे आ वहतं रयिम्।* ऋ.सं. 8.5.15

ना युष्मे वाजबन्धवः। ऋ.सं. 68.19

त्वे, अम्बे साहुत। सा.सं. 1.38

- अस्मे, युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः।
ऋ.प्रा. 1.73

- चमू अस्मे त्वे। वा.प्रा. 1.96

- अस्मे। त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः। तै.प्रा. 4.9-10

- अस्मे युष्मे त्वे मे इति चोदात्ताः। च.अ.1.77

- त्वे। ऋ.तं. 82

तुल. शे। पा.सू. 1.1.13

(ग) उदात्तस्वरयुक्त 'मे'।

यथा : *मे रायौ मा वयं।* वा.सं. 4.22

- मे उदात्तम्। वा.प्रा. 1.97

- अस्मे युष्मे त्वे मे चोदात्ताः - च.अ. 1.77

विशेष[1] च.अ. 1.77 में 'मे' के साथ-साथ 'अस्मे' 'युष्मे' 'त्वे' का भी प्रगृह्य के लिए उदात्तत्व अनिवार्य माना जाता है।

(घ) पाद के मध्य में पदान्त एकार और पदादि अकार हो।

यथा : *तत्ते अग्ने।* साम सं. 1.5.31

- अयवावे न्यूने। ऋ.तं. 76

6. आकार - निपात अपृक्त 'आ', जिसके बाद में कोई स्वर हो।

यथा : - *कदा वसो स्तोत्रं हर्यित आ।*

-आअव, साम. सं. 1.228

- आ णि। ऋ.तं. 71

- निपातोऽपृक्तोऽनाकारः। च.अ. 1.79

तुल. निपात एकाजनाङ्। पा.सू. 1.1.14

विशेष[2] जहाँ अन्य सभी प्रातिशाख्यों में प्रगृह्य-संज्ञा-विधायक सूत्रों का निर्देश करके पृथक् से प्रकृतिभाव वाले स्थलों का निर्देश किया है, वहाँ ऋक्तन्त्र में न तो उक्त प्रकार का कोई विभाजन किया गया है और

न ही प्रगृह्य और प्रकृतिभाव का उल्लेख किया गया है। तै.प्रा. में प्रगृह्य के लिए प्रग्रह-संज्ञा का विधान किया गया है।

प्रग्रह द्र. प्रगृह्य।

प्रचय स्वरित के पश्चात् अनुदात्तों का अथवा अनुदात्तों या एक अनुदात्त का प्रचय-धर्म अर्थात् उदात्त-श्रुति (उदात्तमय) होती है।

यथा: *इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती।* ऋ.सं. 10.75.6

– स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा।।
ऋ.प्रा. 3.19

– स्वरितात्स हितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः।
तै.प्रा.21.10

– नोदात्तस्वरितपरः। तै.प्रा. 2.11

– स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम्। वा.प्रा. 4.141

– अनेकमपि। वा.प्रा. 4.142

– स्वरितादनुदात्त उदात्तश्रुतिः। च.अ. 3.71

– स्वरितोदात्तेऽनन्तरमनुदात्तम्। च.अ. 3.74

– तस्मादुच्चश्रुतीनि। ऋ.तं. 61

तुल. नोदात्तस्वरितोदयम्। पा.सू. 8.4.67
स्वरितात्संहितायामनुदात्तायाम्।

विशेष ' प्रचय के लिए वा.प्रा. में 'उदात्तमय', ऋ.प्रा., तै.प्रा. तथा च.अ. में उदात्तश्रुति एवं ऋ.तं. में 'उच्चश्रुति' संज्ञा का प्रयोग हुआ है। किन्तु वा.प्रा. का 'उदात्तमय' काण्व के मतानुसार पदपाठ के प्रसङ्ग में ही होता है।

विशेष[2] ऋ.प्रा. के अनुसार कुछ आचार्य प्रचय की स्थिति में अन्त से आरम्भ करके एक या अधिक अक्षरों का 'अनुदात्त' उच्चारण अथवा अन्तिम अक्षर से पूर्व तक सभी स्वरों का अनुदात्त उच्चारण करते हैं। एक अन्य स्थिति में उदात्त या स्वरित होने पर पूर्ववर्ती प्रचय को अनुदात्त कर देते हैं।

-केचित्त्वेकमनेकं वा नियच्छन्त्यन्ततोऽक्षरम् आ वा शेषात्।

ऋ.प्रा. 3.20

- नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम्। ऋ.प्रा. 3.21

विशेष[3] वा.प्रा. के अनुसार कुछ आचार्यों का कहना है कि उदात्त अथवा स्वरित बाद में रहने पर स्वरित का अन्तिम भाग अनुदात्त होता है।

स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते। वा.प्रा. 4.140

विशेष[4] वा.प्रा. के उब्बट भाष्य में उदात्तमय, प्रचित और 'एकश्रुति' को पर्याय माना गया है।

- उदात्तमयं प्रचितमेकश्रुतीति पर्यायाः।

वा.प्रा. 4.141 पर उ.भा.

विशेष[5] ऋ.प्रा. में उदात्तश्रुति की एक और स्थिति बनती है, जिसमें स्वरित का परवर्ती अवशिष्ट अनुदात्त उदात्त के समान सुना जाता है, यदि बाद में विद्यमान 'अक्षर' (स्वर-वर्ण) 'उदात्त' अथवा 'स्वरित' उच्चारित न हो।

यथा : *तेऽवर्धन्त।* ऋ.सं. 1.85.7

- अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। ऋ.प्रा. 3.5

- न चेद् उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम्।

ऋ.प्रा. 3.6

विशेष[6] क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य ये सात स्वर प्रचय के भेद हैं। इनमें से 'तृतीय' को मध्य में होने के कारण 'धृत' या 'धृतप्रचय' कहा गया है।

– कौण्डिन्यस्य मते ओकारस्य धृतापरपर्यायः प्रचयो नाम स्वरो भवति। क्रुष्टादीनां सप्तानां स्वराणां मध्ये तृतीयाख्यो यो मध्यमस्वरस्तस्य धृत इत्यन्वर्थसंज्ञा।

तै.प्रा. 18.3 पर वै.भा.

प्रचित द्र. प्रचय

प्रतिकण्ठ[1] निपातन। सम्पूर्ण शास्त्र का अपवाद, जिसे आचार्यों ने एक-एक करके नामतः परिगणित किया है।

यथा : *नु। इत्था ते।*

यहाँ क्षैप्र-सन्धि प्राप्त थी किन्तु निपातन के द्वारा उसका बाध करके यहाँ 'नु' का 'नू' हो गया।

नू *इत्था ते।* ऋ.सं. 1.132.4

– सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम्। ऋ.प्रा. 1.54

प्रतिकण्ठ[2] निपातनविधि। विधि (सामान्य, अपवादादि), शास्त्रविधि से जिन पदों के साधुत्व-असाधुत्व का निर्धारण असम्भव हो, उनका प्रतिपद परिगणन।

यथा : नु *इत्था ते।* ऋ.सं., प.पा. 1.132.4

यहाँ प्राप्त क्षैप्र सन्धि का बाध करते हुए उकार का निपातन किया गया पद बना।

– नू इत्था ते। सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम्।

ऋ.प्रा. 1.54

– प्रतिकण्ठशब्देन निपातनमुच्यते।

तद्धि कण्ठं कण्ठमिव प्रतिसंगृह्यैकैकस्यैव प्रदर्श्यते।

ऋ.प्रा. 1.54 पर उ.भा.

विशेष निपातन-विधि सर्वशास्त्र विषयगत (सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्रगत) संज्ञादि षट्सूत्रों से अप्राप्त विधि की विधायक और यथालक्ष्य प्राप्तविधि की बाधक होती है।

तुल. धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।

अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्।।

पा.सू. 5.1.114 पर म.भा. प्रदीप।

प्रतिमा बारह अक्षरों का छन्द।

द्र. मा। ऋ.प्रा. 17.19

प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि। पदान्त व्यञ्जन का पदादि स्वर के साथ मेल।

यथा : *तम्। इन्द्रम् दानम्। ईमहे।* ऋ.सं. 8.46.6

– प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव। ऋ.प्रा. 2.9

प्रतिषेधक 'न' निषेधवाचक शब्द।

यथा : *नावग्रहः।* तै.सं. 4.2

– नेति प्रतिषेधकः। तै.प्रा. 22.8

प्रतिष्ठा विराट् जगती। द्र. ताराड्।

प्रतिहार अति प्रयत्न के साथ उच्चारण। तवर्ग के उच्चारण में जिह्वा का दाँतों के साथ आवश्यकता से अधिक स्पर्श होना।

प्रतिहारश्चतुर्थे। ऋ.प्रा. 14.23

प्रतृण्ण पदपाठ। पदपाठों का सन्धि-रहित उच्चारण। अर्थात् यथावत् उच्चारण।

– शौद्धाक्षरोच्चारणं च प्रतृण्णम्। ऋ.प्रा. व.वि.वृ. 3

– प्रतृण्णं पदाध्ययनमुच्यते। ऋ.प्रा. व.वि.वृ.3 पर भाष्य.।

तुल. *अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्याग्र एव।*

ऐ. आ. 3.1.3 पर सा.भा.।

प्रत्न विराट् अतिजगती। द्र. ताराड्।

प्रत्यय परवर्ती। पर (पश्चाद्वर्ती) में आनेवाला कोई भी वर्ण या पद।
- प्रत्येति पश्चादागच्छतीति 'प्रत्ययः' परः। तै.प्रा. 5.7 पर वै.भा.

परा. स्पर्शे चोषः प्रत्यये पूर्वपद्यः। ऋ.प्रा. 1.80

- अकुर्वं च प्रत्ययात्परः। तै.प्रा. 5.7

- नामिकरेफात्प्रत्ययसकारस्य। वा.प्रा.2.8.7

तुल. प्रत्ययः। परश्च। पा.सू. 3.1.1-2

प्रमा आठ अक्षरों का छन्द। द्र. मा।

प्रवण स्वरविशेष। द्र. स्वरित

प्रश्न [1] तीन ऋचाओं का समूह।

- प्रश्नस्तृचः। ऋ.प्रा. 15.23

प्रश्न [2] पङ्क्ति छन्द में दो अथवा तीन ऋचाओं का समूह।

- पङ्क्तिषु तु द्व्चो वा। ऋ.प्रा. 15.24

प्रश्न [3] पङ्क्ति। दश अक्षरों के छन्द से अधिक अक्षरों वाले छन्दों में दो-दो ऋचाओं का समूह।

- द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु। ऋ.प्रा. 15.25

प्रश्न [4] सूक्त हो तो एक ऋचा भी प्रश्न होती है।

एका च सूक्तम्। ऋ.प्रा. 15.27

विशेष [1] समय-संज्ञक पुनरुक्त मन्त्रांश (छोटा या बड़ा) प्रश्नों में परिगणित नहीं होता।

- समयास्त्वगण्याः परावरार्ध्याः। ऋ.प्रा. 15.27

विशेष [2] सूक्त का शेष भाग यदि प्रश्न से अल्पतर (एक ऋचात्मक) हो तो वह पूर्ववर्ती प्रश्न का अङ्ग होगा। यदि सूक्त का शेष भाग दो ऋचाओं वाला हो तो वह

विकल्प से पूर्ववर्ती प्रश्न का अङ्ग होता है। यदि ये दो ऋचाएं पंक्ति छन्द से पूर्ववर्ती छन्द (दश अक्षर से कम अक्षरों वाले छन्द) की हों तो वे पूर्ववर्ती प्रश्न का अङ्ग हो जाती हैं। यदि पंक्ति से परवर्ती छन्द (दश अक्षर से अधिक अक्षरों वाले छन्द) की हों तो वे परवर्ती प्रश्न का अङ्ग होती हैं और यदि ये दो ऋचाएं पंक्ति छन्द से मिश्रित हों तो इसके तीन विकल्प होते हैं :–

(क) कहीं तो पृथक् प्रश्न बन जाती है।

(ख) कहीं छन्द की अक्षर-संख्या के आधार पर पूर्ववर्ती प्रश्न का अङ्ग होती है।

(ग) कहीं अक्षर-संख्या के आधार पर ही पूर्ववर्ती प्रश्न का अङ्ग नहीं बनती।

– यदि सूक्तस्य शेषो द्वृचो भवति पूर्वं प्रश्नं गच्छेत् वा न वेति पङ्क्त्याः प्राक् छन्दसो द्वृचं पूर्वमेव गच्छेत्। यदि पराणि पङ्क्त्याः स्युः तथा पूर्वं न गच्छेत्, यदि मिश्राणि स्युः पङ्क्त्या तर्हि क्वचित् पृथक् स्यात्, पूर्वं गच्छेत् वा संख्यावशेन। ऋ.प्रा. 15.30 पर उ.भा.

प्रश्रित पदादि सघोष व्यञ्जन होने पर ह्रस्वस्वर-पूर्वक अरिफित विसर्जनीय की उपधा का ओकार हो जाना।

यथा : *देवः देवेभिरागमत् देवो देवेभिरागमत्।* ऋ.सं. 1.1.5

– ओकारं ह्रस्वपूर्वः। ऋ.प्रा. 4.25

– घोषवत्परश्च। तै.प्रा. 9.8

– सर्वो अःकार ओकारम्। वा.प्रा. 4.43

विशेष वा.प्रा. और तै.प्रा. में प्रश्रित-संज्ञा का प्रयोग नहीं है किन्तु इस सन्धि का विधान किया गया है।

प्रश्रितसन्धि पदादि सघोष व्यञ्जन होने पर ह्रस्वस्वर पूर्व रिफित विसर्जनीय का उपधा-सहित 'ओकार' में परिवर्तित होना।

यथा : *देव=देवेभिः आगमत्=देवोदेवेभिरागमत्।* ऋ.सं. 1.1.5

- ओकारं ह्रस्वपूर्वः। ऋ.प्रा. 4.25
- घोषवत्परश्च। तै.प्रा. 9.8
- सर्वो अःकार ओकारम्। वा.प्रा. 4.43
- घोषवति च। च.अ. 2.54

तुल. हशि च। पा.सू. 6.1.114

विशेष ऋ.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में 'प्रश्रित सन्धि' संज्ञा का प्रयोग नहीं है, पर इस सन्धि का विधान किया गया है।

प्रश्लिष्ट सन्धि दीर्घ, गुण, वृद्धि दो स्वरों का एक स्वर में परिवर्तित होना।

यथा : *अश्व अजनि=अश्वाजनि प्रचेतसः।* ऋ.सं. 6.75.13

आ इन्द्रम्=ऐन्द्र सानसिं रयिम्। ऋ.सं. 1.8.1

आ एनम्=ऐनं देवासः। ऋ.सं. 1.123.1

समानाक्षरं सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् इकारोदय एकार-मकारः सोदयः। तथा उकारोदय ओकारम् परेष्वैकारयोजयोः औकारं युग्मयोः।

एते प्रश्लिष्टा नाम सन्धयः। ऋ.प्रा. 2.15-20

- दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे। तै.प्रा. 10.2
- अथावर्णपूर्वे, इवर्ण-पर एकारम्, उवर्ण-पर ओकारम्, एकारैकार-पर ऐकारम्, ओकारौकार-पर औकारम्, अरमृकारपरे। तै.प्रा. 10.3-8

- प्राग्निभ्यामनिन्धौ प्रश्लेषे। वा.प्रा. 5.33
- सिं सवर्णे दीर्घम्। वा.प्रा. 4.52
- कण्ठ्यादिवर्ण एकारम्, उवर्ण ओकारम्।

वा.प्रा.4.54-55

- समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः। च.अ. 3.42
- अवर्णस्येवर्ण एकारः, ऊवर्ण ओकारः।

च.अ. 3.44-45

- अरमृवर्णे। च.अ. 2.46
- एकारैकारयोरैकारः, ओकारौकारयोरौकारः।

च.अ. 3.50-51

- रौ घम्, अस्थनामिनी सन्ध्यम्, सन्ध्यं द्विवर्णम्।

ऋ.तं. 93-95

प्रसन्धान सन्धि-विशेष। द्विपद क्रम (क्रमपाठ) के अन्त वाले पद से परवर्ती पद का मेल।

यथा : *यः। चकार। सः। निः-करत्। सः। एव। सुभिषक्-तमः (पदपाठ) यश्चकार। चकार। सः। सँ निष्करत्। निष्करत्सः। निष्करदिति निःकरत्। स एव। एव सुभिषक्तमः। सुभिषक्तम इति सुभिषक्तमः* (क्रमपाठ) - यश्चकार स निष्करत्स एव सुभिषक्तमः।

अ.सं.2.9.5

- तस्यान्तेन परस्य प्रसन्धानम्। च.अ. 4.111
- यथाशास्त्रं प्रसन्धानम्। च.अ. 4.122

प्रस्तार पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद। इसमें अन्त के दोनों चरणों (तृतीय एवं चतुर्थ) में आठ-आठ अक्षर तथा शेष

(प्रथम एवं द्वितीय) चरणों में बारह-बारह अक्षर होते हैं।

यथा : *महि द्यावापृथिवी भूतमूर्वी।* ऋ.सं. 10.93.1

प्रस्तारपङ्क्तिरन्ततः। ऋ.प्रा.16.60

प्राच्यपदवृत्ति उद्ग्राह-सन्धि में पदान्त एकार के पश्चात् अकार होने पर दोनों का अविकृत रहना।

यथा : *ते। अग्रेऽया:=ते अग्रेया ऋभवो मन्दसाना:।* ऋ.सं.4.34.10

– उद्ग्राहाणां पूर्वरूपाण्यकारे प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकमाद्यम् प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयस्ताः पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति। ऋ.प्रा. 2.33

– स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेषामर्धसदृशमेकेषाम्। तै.प्रा.11.19

– ते चानुदात्तमनुदात्ते। वा.प्रा. 4.84

– क्वचित् प्रकृत्या। च.अ. 3.54

– अयवाये न्यूने। ऋ.तं. 76

तुल. प्रकृत्या अन्तःपदमव्यपरे। पा.सू. 6.1.115

विशेष[1] ऋ.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में प्राच्यपदवृत्ति-संज्ञा का प्रयोग नहीं है किन्तु इस सन्धि का विधान किया गया है।

विशेष[2] यह सन्धि अभिनिहित सन्धि का अपवाद है।

प्राण प्राणवायु। प्राणाख्य वायु जो ध्वनि उत्पादन में कारण है।

– वायुप्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्। ऋ.प्रा. 13.1

– अनतौ विसंभ्यां प्राणाख्या चेत् च.अ. 4.39

प्रातिश्रुत्क प्रतिध्वनि (प्रतिश्रुति) के उत्पादक स्थान।

यथा : उरः, कण्ठ, शिरः मुख और नासिका।

- प्रतिश्रुत् प्रतिध्वनिः तत्सम्बन्धीनि 'प्रातिश्रुत्कानि'। तै.प्रा. 2.3 पर त्रिभा.र.
- तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठशिशरो मुखं नासिके इति। तै.प्रा. 2.3

प्रेप्सु सन्नन्त (इच्छाद्योतक क्रिया)

यथा : जिगमिषति,

- यादाविच्छायां स्वरात्कर्मनाम-तन्मानिप्रेप्सुषु।

च.अ.1.29

प्लुत त्रिमात्राकालिक स्वर। ह्रस्व से त्रिगुण काल वाले स्वर।

यथा : *अ3 ई3, ऊ3, ऋ3, ए3, ऐ3, ओ3, औ3 ।*

- तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः। ऋ.प्रा. 1.30
- त्रिःप्लुतः। तै.प्रा. 1.36
- प्लुतस्त्रिः। वा.प्रा. 1.58
- तिस्रो वृद्धम्। ऋ.तं. 44
- त्रिमात्रः प्लुतः। च.अ. 1.62

तुल. उकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। पा.सू. 1.2.27

- पराशरादिवद्दूरगामित्वात्प्लुत-इत्युच्यते। त्रिस्तावान् ह्रस्व-त्रिगुणकालः मयूररुततुल्यकालस्वरः प्लुतसंज्ञो भवति।

तै.प्रा. 1.36 पर वै.भा.

- शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एषमात्रापरिग्रहः। ऋ.प्रा. 13.50

विशेष । 'प्लुत' शब्द 'गति करना' अथवा 'लम्बा करना' अर्थ वाले 'प्लु' धातु से निष्पन्न हुआ है।

विशेष[2] ऋ.प्रा. और ऋ.तं. के वर्ण-समाम्नाय में प्लुत वर्ण का निर्देश नहीं है किन्तु ऋ.सं. के 'अधः' स्विदासी3त् आदि कतिपय मन्त्रों में प्लुत का प्रयोग हुआ है।

विशेष[3] ऋ.तं. में त्रैमात्रिक वर्णों के लिए 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग किया गया है, जो प्लुत का द्योतक है।

विशेष[4] वा.प्रा. तथा च.अ. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में सन्ध्यक्षर, ऋकार तथा लृकार के प्लुत रूप नहीं मिलते हैं।

प्लुत द्र. त्रिमात्र

प्लुति ह्रस्व का दीर्घभाव। ऋ.लृ. से भिन्न पदान्त ह्रस्व-स्वर का पदादि व्यञ्जन रहने पर दीर्घ-भाव होना।

यथा : *मक्षू देववतोरथः।* ऋ.सं. 8.31.15

- दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जनेऽन्यस्त्वृकाराद् यथादिष्टं सामवशः स सन्धिः। ऋ.प्रा. 7.1
- सैव प्लुतिः। ऋ.प्रा. 7.2

तुल. अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो येन प्लुतिं विदुः।

म.भा., पस्पशाह्निक-1

प्लुतोपध जिसकी उपधा में प्लुत हो।

यथा : *एवाँ अग्नि।* ऋ.सं. 5.6.10

अत्रि-मण्डल सूक्त में 'एवाँ' तथा 'अग्निं' दोनों पदों में क्रमशः आ तथा 'इ' की प्लुतोपध संज्ञा की गई है।

- ए वाँ अग्निमत्रिषु सा प्लुतोपधा। ऋ.प्रा. 2.66

ब

बर्बरता स्पर्श के साथ रेफ का उच्चारण। अति स्पर्श के साथ उच्चारण। रेफ के उच्चारण में अति स्पर्श (घर्षण-पूर्वक) होता है।

- अतिस्पर्शो बर्बरता च रेफे। ऋ.प्रा. 14.26

- बर्बरताप्यसौकुमार्यमेव।। ऋ.प्रा. 14.26 पर उ.भा.

बर्स्व : द्र. स्थान।

बार्हत [1] ऐसा प्रगाथ जिसके आदि में बृहती एवं अन्त में जगती छन्द हो।

यथा : *तं वः शर्धं रथे शुभम्।* ऋ.सं. 5.56.9, 5.57.1

- बार्हतो बृहती मुखः। ऋ.प्रा. 18.11

बार्हत [2] आदि में बृहती छन्द एवं अन्त में अतिजगती छन्द हो तो वह भी बार्हत-प्रगाथ होता है।

यथा : *नेमिं नमन्ति चक्षसा।* ऋ.सं. 8.97.12-13

- अथो अतिजगत्यन्तः। ऋ.प्रा. 18.12

बार्हत प्रगाथ बृहती से प्रारम्भ होने वाला प्रगाथ।

यथा : *त्वमङ्ग-प्रशंसिषः।* ऋ.सं. 1.84.19-20

- बार्हती बृहती पूर्वः। ऋ.प्रा. 18.1

बार्हतत्रैष्टुभ

ऐसा प्रगाथ जिसका आरम्भ बृहती से तथा अन्त त्रिष्टुभ् छन्द से होता है।

यथा : *यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि।* ऋ.सं. 8.10.1-2

- यत्स्थो दीर्घेति च त्वेष बृहती त्रिष्टुबेव च। ऋ.प्रा.18.25

बार्हतानुष्टुभ् ऐसा प्रगाथ जिसके आदि में बृहती एवं अन्त में अनुष्टुभ् छन्द हो।

यथा : *ते नस्त्राध्वं तेऽवत।* ऋ.सं. 8.30.3-4

- ते नस्त्राध्वं बृहत्यादिर्बार्हतानुष्टुभः स्मृतः। ऋ.प्रा. 18-21

बर्स्व्य बर्स्व-स्थान से उच्चारित होने वाले वर्ण बर्स्व्य। अर्थात् दन्तमूल के ऊपर उभरे हुए भाग में जिह्वाग्रकरण से उच्चारित होने वाले वर्ण।

यथा : रेफ, ऋ, ॠ, लृ लॄ।

– रेफं बर्स्वमेके। ऋ.प्रा. 1.46

– उपसंहततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसंहरति। तै. प्रा. 2.18

द्र. 'बर्स्वेषु' इति दन्तपङ्क्तेरुपरिष्टादुच्चप्रदेशेष्वित्यर्थः।

तै.प्रा. 2.18 पर त्रिभा.र.

बर्स्वशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेश उच्यते।

ऋ.प्रा. 1.46 (उ.भा.)

– बर्स्वा नाम रेफटवर्गस्थानयोर्मध्यप्रदेशाः।

तै.प्रा. 2.18 पर वै.भा.

विशेष वा.प्रा., च.अ. तथा ऋ.तं. में इस संज्ञा का विधान अथवा प्रयोग नहीं किया गया है।

ब्रह्मराशि द्र. वर्णसमाम्नाय।

भाविन् अ, आ से अतिरिक्त शेष समस्त स्वर-वर्ण।

यथा : इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ।
– अकण्ठ्यो भावी। वा.प्रा. 1.46

विशेष वा.प्रा. से अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में 'भाविन्' संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है।

भ

भुग्न-सन्धि पदान्तीय मूलभूत 'ओ', 'औ' से निष्पन्न 'अ' 'ओ' के बाद (ओष्ठ्य-व्यतिरिक्त) स्वर होने पर दोनों के मध्य में 'व' का आगम हो जाना।

यथा : *वायोऽत्र। आ। वायवा वाहि दर्शत।*

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पशा। ऋ.सं.1.2.1 ,1.2.8

– ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्येवकारोऽत्रान्तरागमः।

ऋ.प्रा.2.3

– सन्ध्यक्षरमयवायावम्। वा.प्रा. 4.48

– ओकारोऽवम्, औकार आवम्। तै.प्रा. 9.12, 9.15

– सन्ध्यक्षराणामयवायावः। च.अ. 3.40

– सन्ध्यमयवायावम्। ऋ.तं. 11

तुल. एचोऽयवायावः। पा.सू. 6.1.78

द्र. उद्ग्राह सन्धि का विशेष।

भूरिक् एक अक्षर अधिक होने पर गायत्री आदि निश्चित अक्षरों वाले छन्दों की भूरिक्-संज्ञा होती है।

यथा : *परिधामानि यानि ते। इति भूरिक्।* ऋ.सं. 9.66.3

– एकद्व्युनाधिका सैव निचृदूनाधिका भूरिक्।

ऋ.प्रा. 17.2

भूरिक् गायत्री गायत्री छन्द का एक भेद। प्रथम पाद में आठ, द्वितीय में दश एवं तृतीय में सात अक्षर हों तो भूरिक् गायत्री होती है।

यथा : *विद्वांसोविद् दुरः पृच्छेद्।* ऋ.सं.1.120.2

– अष्टको दशकः सप्ती विद्वांसाविति सा भूरिक्।

ऋ.प्रा. 16.20

भूरिक् पदपङ्क्तिर्गायत्री गायत्री छन्द का एक भेद। चार चरण पाँच-पाँच अक्षरों के तथा अन्तिम चरण छह अक्षरों का हो तो भूरिक् पदपङ्क्ति गायत्री होती है।

यथा : *अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदि स्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः।* ऋ.सं. 4.10.1

– पञ्चकाः पञ्च षड् वान्त्यः पदपङ्क्तिर्हि सा भूरिक्। ऋ.प्रा. 16.18

म

मध्यजिह्व द्र. जिह्वामध्य

मध्यम षष्ठ वाचस्थान। जिस वाचस्थान में प्रयुज्यमान शब्द प्रयोक्ता के कण्ठ-प्रदेश में स्थित होकर श्रोता को स्वरों और व्यञ्जनों का ज्ञानभेदपूर्वक (अर्थात् सुस्पष्टता के साथ) होता है, उसे मन्द्र कहते हैं।

– त्रीणि मन्द्रं भव्यमुत्तमं च स्थानान्याहुः। सप्तयमानि वाचः। ऋ.प्रा. 13.42

– मध्यमं कण्ठे वर्तते। ऋ.प्रा. 13.42 पर उ.भा.

– कण्ठे मध्यमम्। तै.प्रा. 23.1

मध्यमा वृत्ति वृत्ति (उच्चारण-गति) का एक प्रकार । इस वृत्ति में उच्चारणगति (चतुष्कलात्मक) होती है।

– चतुष्कला मध्यमायाम्। ऋ.तं. 32

द्र. वृत्ति।

मन्द्र पञ्चम वाचस्थान। जिस वाचस्थान में प्रयुज्यमान शब्द प्रयोक्ता को उरःप्रदेश में स्थित होता हुआ श्रोता को स्वर तथा व्यञ्जन-वर्ण का ज्ञान-भेद पूर्वक उपलब्ध होता हो तो वह मन्द्र-संज्ञक होता है।

– त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः। ऋ.प्रा. 13.42

– तेषु मन्द्रमुरसि वर्तते। ऋ.प्रा. 13.42 पर उ.भा.

– उरसि मन्द्रम्। तै.प्रा. 23.10

मर्षिका विराट् प्रतिमा। द्र. हर्षिका।

महा बार्हत ऐसा प्रगाथ छन्द जिसके पूर्व में 'महासतो बृहती' तथा अन्त में 'महाबृहती' हो।

यथा : *बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः।* ऋ.सं. 6.48.7-8

- महासतो बृहत्यन्तो यो महाबार्हतो

मुखः स महाबृहती नाम। ऋ.प्रा. 18.10

महापङ्क्ति जगती छन्द का एक भेद। जगती छन्द के इस भेद में आठ-आठ अक्षरों के छह चरण होते हैं। कभी-कभी इसी छन्द में आठ-आठ अक्षरों के दो चरण, तथा सात, छह, दश एवं नौ अक्षरों के एक-एक चरण भी होते हैं।

यथा: *सेहान उग्र पृतना।* ऋ. सं. 8.37.2

सूर्ये विषमा सजामि.....। ऋ.सं. 1.191.10

- महापङ्क्तिः षडष्टकाः। ऋ.प्रा. 16.75

- अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकश्च वा।

ऋ.प्रा.16.76

महापदपङ्क्ति अनुष्टुभ् अनुष्टुभ् का एक भेद (छह चरणों वाला अनुष्टुभ्) इस छन्द में पूर्ववर्ती पाँच चरण पाँच-पाँच अक्षरों वाले एवं अन्तिम चरण छह अक्षरों वाला होता है।

यथा : *तव स्वादिष्ठाने संदृष्टिः।* ऋ.सं. 4.10.5

- षण्महापदपङ्क्तिस्तु षट्कोऽन्त्यः पञ्च-पञ्चकाः।

ऋ.प्रा.16.43

महाबृहती त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में आठ-आठ अक्षरों वाले चार चरण एवं बारह अक्षरों का एक चरण होता है।

यथा : *नमो वाके प्रस्थिते अध्वरे नरा।* ऋ.सं. 8.35.23

– चत्वारोऽष्टाक्षराः पादाः एकश्च द्वादशाक्षरः।

सा महाबृहती नाम। ऋ.प्रा.16.71

महासतो बृहती जगती का एक भेद। इस छन्द में आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण एवं बारह-बारह अक्षरों के दो चरण होते हैं। यह जगती एवं महापङ्क्ति का संयुक्त-रूप है।

यथा : *विश्वासां गृहपतिर्विशामसि।* ऋ.सं. 6.48.8

महासतो बृहत्यर्धे व्यूहयोरेतयोः सह। ऋ.प्रा.16.77

मा चार अक्षरों का छन्द। गायत्री छन्द से पूर्व का छन्द, जिसके प्रत्येक चरण में एक-एक अक्षर होता है।

विशेष गायत्री छन्द से पूर्व पाँच छन्द होते हैं जो चार अक्षरों से प्रारम्भ होकर क्रमशः चार-चार अक्षरों से बढ़ते हैं।

– मा प्रमा प्रतिमोपमा समा च चतुरक्षरात्

चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्चच्छन्दांसि तानि ह। ऋ.प्रा.17.19

मात्रा वर्णों का उच्चारण-काल। ह्रस्व-स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं।

यथा : अ, ऋ, इ, उ स्वर।

– मात्रा ह्रस्वः। ऋ.प्रा. 1.27

– मात्रा च। वा.प्रा. 1.56

– परिमाणमात्राकालः। तै.प्रा. 24.2 पर त्रिभा.र.

– मात्रा। ऋ.तं. 42

विशेष [1] चाष (नीलकण्ठ) की ध्वनि मात्रा-काल के बराबर मानी जाती है।

– "चाषस्तु वदते मात्राम्"। ऋ.प्रा. 13.50

के. वी. अभ्यङ्कर जैसे कुछ आधुनिक ध्वनि-शास्त्रियों ने मात्राकाल का माप वन-कुक्कुट की ध्वनि, पलक गिराना एवं बिजली की चमक के काल के बराबर माना है।

विशेष[2] मात्रा को ही मानक मानकर त्रिमात्र, द्विमात्र, एकमात्र, अर्धमात्र, अणुमात्र एवं परमाणु मात्र का भेद दिखलाया गया है।

द्र. व्यास-शिक्षा (चुटकी बजाना)।

नारदीय-शिक्षा (बिजली चमकने के समान)

मार्दव उच्चारणावयवों का अधोगमन। इस स्थिति में अनुदात्त स्वर का उच्चारण होता है जो मृदु और स्निग्ध होता है।

– उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।

आयामस्त उच्यन्ते विश्रम्भाक्षेपैः। ऋ.प्रा. 3.1

– आयाममार्दवाभिघाताः। वा.प्रा. 1.31

तुल. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।

पा.सू. 1.2.29-30 पर म.भा.

मुखनासिक्य द्र. नासिक्य।

मुत् श, ष, स। वा.प्रा.में श, ष, स के लिये मुत्-संज्ञा का विधान किया गया है।

– मुच्च। वा.प्रा. 1.52, द्र. वा.प्रा. 3.9, 3.1-3 तथा 4.122

मूर्धन्य मूर्धा-स्थान में उच्चारित होने वाले वर्ण। मूर्धा अर्थात् मुखविवर के सर्वोच्च स्थान में प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र से उच्चारित होने वाले वर्ण।

यथा : षकार तथा टवर्ग।

– मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ। ऋ.प्रा.1.43

– जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे। तै.प्रा. 2.37

- स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण। तै.प्रा. 2.44
- षटौ मूर्धनि। वा.प्रा. 1.67
- मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्। वा.प्रा. 1.78
- मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्। च.अ. 1.22
- मूर्धनि षटौ। ऋ.तं. 6

मूर्धा द्र. स्थान।

य

यम पञ्चम वर्ग से अव्यवहित-पूर्व स्पर्शवर्ण का द्विर्वचन। समानपद (एकपदं) में अपञ्चम स्पर्श-वर्ण के बाद यदि पञ्चम स्पर्श-वर्ण हो तो मध्य में अपञ्चम स्पर्श का द्विर्वचन यम होता है।

यथा : *पलिक्नीः चख्नथुः।* ऋ.सं. 5.2.4

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट। वा.सं. 13.51

- स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु। ऋ.प्रा. 6.29
- यमः प्रकृत्यैव सदृक्। ऋ.प्रा. 6.32
- स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः तान्यमानेके। तै.प्रा. 21.12-13
- कुं खुं गुं घुं इति यमाः। वा.प्रा. 8.24
- अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम्। वा.प्रा. 4.163
- समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्। च.अ.1.99

- कुं इति खुं इति गुं इति घुं इति यमाः।
- अनन्त्यात्संयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। ऋ.तं. प्र.प्र. 2
- विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्। 'रुक्कमः' इत्यत्र द्वितीयस्य ककारस्य यम इत्यस्य कार्यक्रमः क्रियते।

वा.प्रा. 4.163 पर उ.भा.

तुल. नारदौदव्रज्योर्मतेन 'यमो वर्णागम' इति विधीयते। अन्ये तु यमं वर्णापत्तिं मन्यन्ते। तथा च शौनकः।

स्पर्शा यमान् अनुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु इति। पा.शि. 4 पर पञ्जिकाभाष्य।

तुल. वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः। पा.सू. 7.1.1 पर सि.कौ.

विशेष[1] यम-वर्ण का उच्चारण-स्थान प्रातिशाख्यों में वर्णित नासिकास्थान के साथ-साथ पूर्ववर्ती वर्ण के उच्चारण-स्थान भी होते हैं। इस प्रकार द्विस्थानिक होने के कारण भी उसे यम कहते हैं।

- श्रुतिर्वा यमेन मुख्याऽस्ति समानकाला। ऋ.प्रा. 6.33

विशेष[2] बाद में आनेवाला यम प्रकृति में मूलभूत कम्पन से भिन्न नहीं होता।

- यमः प्रकृत्यैव सदृक्। ऋ.प्रा. 6.32
- अनन्यस्तु प्रकृतेः प्रत्ययार्थे। ऋ.प्रा. 6.34

विशेष[3] यमों की संख्या तो वस्तुतः बीस बतलाई गई है, पर प्रत्येक वर्ग के प्रथम स्पर्श को प्रतिनिधि मानने पर किन्हीं प्रातिशाख्यों में यमों की संख्या चार भी बतलाई गई है।

यथा : *कुं, खुं, गुं, घुं।* वा.प्रा. 8.24, ऋ.तं., प्र.प्र. 2

विशेष [4] वा.प्रा. में यम को 'विच्छेद' कहा गया है।

यम [2] सांगीतिक सप्तस्वर। सामगान में प्रयुक्त मन्द्र, मध्यम, तार-इन वाचस्थानों में उदात्तादि (उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति) सप्त स्वर के आधार पर प्रत्येक के सात यम (स्वर-भेद) होते हैं।

यथा : क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य। इनमें से द्वितीय, प्रथम तथा क्रुष्ट आह्वार के मत में होने कारण आह्वारक स्वर कहे जाते हैं। मन्द्र, चतुर्थ, तृतीय और द्वितीय तैत्तिरीय के मत में होने के कारण तैत्तिरीयक स्वर कहलाते हैं।

– मन्द्रमध्यमाताराख्येषु त्रिषु वाचः स्थानेषु।
प्रत्येकं सप्त स्वरभेदाः भवन्ति।

तै.प्रा. 23.13 पर वै.भा.

– क्रुष्टप्रथमद्वितीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः। तै.प्रा. 23.14

विशेष उपर्युक्त 'क्रुष्ट' आदि सात यम गान्धर्व वेद में क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इत्यादि सप्तस्वर के नाम से ख्यात हैं।

द्र. ऋ. प्रा. 13.44 पर उ.भा.

यवमध्या प्रगाथ आदि में बृहती अन्त में यवमध्या होने पर यवमध्या प्रगाथ छन्द होता है।

यथा : *वामी वामस्य धुतयः।* ऋ.सं. 16.48.20-21

– यवमध्योत्तरोऽपि च। ऋ.प्रा. 18.12

यवमध्या गायत्री गायत्री का एक भेद। प्रथम और अन्तिम चरण में सात-सात अक्षर तथा मध्य में दस अक्षर वाली गायत्री।

यथा : *स सुन्वयो वसूनाम्।* ऋ.सं. 9.108.13

– आद्यान्त्यौ सप्तकौ यस्या मध्ये च दशको भवेत्
यवमध्या च गायत्री स सुन्व इति दृश्यते।
ऋ.प्रा.16.27

यवमध्या त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ एवं पञ्चम चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं तथा मध्य का तृतीय चरण बारह अक्षरों का होता है।

यथा : *बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः।* ऋ.सं. 6.48.7

– यवमध्या तु मध्यमे। ऋ.प्रा. 16.72।

युग्म द्र. सोष्मन्।

योगवाह स्वर एवं व्यञ्जन वर्ण। वर्णसमाम्नाय में उपदिष्ट स्वर, स्पर्श, अन्तःस्थ तथा ऊष्मवर्ण।

– अ इति आ इति इ इति ई इति उ इति ऊ इति ऋ इति ॠ इति ऌ इति ॡ इति समानानि। ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि। किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः। चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः। टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः। तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। इति स्पर्शाः। यिति रिति लिति वित्यन्तस्था। अथोष्माणो हिति शिति षिति सिति योगवाहाः। ऋ.तं. प्र.प्र. 2

– योगवहत्वं च इत्थम्। योगेन अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्त पूत्ति योगवाहाः,वा.प्रा.8.18.पर अ.भा.

र

रक्त अनुनासिक।

यथा : *महाँ इन्द्रो।* ऋ.सं. 6.19.1

उग्रँ ओकः। ऋ.सं. 14.51

– रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः। ऋ.प्रा. 1.36

– रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्। ऋ.प्रा. 13.20

– आ रक्तः। ऋ.तं. 114

विशेष [1] ऋ.प्रा. और ऋ.तं. में अनुनासिक के लिए रक्त-संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

विशेष [2] ऋ.तं. में अनुनासिक आकार को ही 'रक्त' कहा गया है।

रिफित अनुबन्ध-सहित विसर्जनीय।

प्रातः 'देवं' पूर्वक भाः, आदि उदात्त वधः, अनुदात्त कः, अविभः, 'तत्' पूर्वक आदः, सूक्तस्थ स्तः, 'एतेशे' 'दिवे' 'अपः' पूर्वक कः, अत्साः, वि-पूर्वक न होने पर स्तः।

स्वस्ति स्वः, 'महः' के उत्तर-पद होने पर अव, स्वर और घोष-वर्ण परे होने पर अर्धर्च के अन्त में न आने वाला 'ऊधः' पद।

एक ही पाद में स्थित 'वि' अथवा 'अप' पूर्वक 'वेः' 'अवः', 'आव' यदि वे समास-रहित हों,

आदि उदात्त न होने पर 'अन्तः पदः'।

यकार बाद में न होने पर 'अहः' एक ऋचा में स्थित 'आवः' और 'वः', स्तोतः, पद।

'अरुण तथा बाद में जित्संज्ञा वर्ण में न हो ऐसा 'स्वः' 'ह्वाः'।

'सवितः', 'पुनः', 'त्वष्टः', 'नेष्टः' अकः, होतः, पातः, प्रातः, जामातः, दुहितः, अजीगः, प्रणेतः, प्रशास्तः, दोषावस्तः, सनितः, पोतः, स्वतः, नेतः, जनितः, भ्रातः, मातः, स्यातः, जरितः, धातः, धर्तः, दर्तः, अवितः, पितः, अवस्र्वतः, प्रयन्तः, दीधः, अभाः, अवरीवः, अदर्धः, दर्द, अदर्धः, अजाग, अजीगः, वाः, अपुनः, पुनः, अस्पः, अकः, स्पः, सस्वः, अहः, सबः, अस्वाः, इन पदों का विसर्जनीय रिफित होता है।

यथा : *प्रातः। अग्निम्=प्रातरग्निम्। प्रातरिन्द्रं हवामहे।*

ऋ.सं. 7.41.1; ऋ.प्रा. 1.81–103; वा.प्रा. 1.160–168

रेफ रकार । रकार जिसका निर्देशक एफ होता है।

यथा : *प्रातरिन्द्रं हवामहे।* ऋ.सं. 7.41.1

– प्रातर्मित्रावरुणा। ऋ.सं. 7.41.1

– एफस्तु रस्य। तै.प्रा. 1.19

– रेफः स्वरधौ। वा.प्रा. 4.37

– र एफेन च। वा.प्रा. 1.39

– रिति रेफात्। ऋ.तं. प्र.प्र. 3

विशेष रेफ का उच्चारण–स्थान सभी प्रातिशाख्यों में दन्तमूल माना गया है। परन्तु कुछ आचार्यों के मत में इसका स्थान दन्त और बर्स्व्य भी है।

– सकार रेफलकारश्च। ऋ.प्रा. 1.45

– रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। तै.प्रा. 2.41

– रो दन्तमूले वा। वा.प्रा. 1.68

– रेफो मूले वा। ऋ.तं. 8

– रेफस्य दन्तमूलानि। च.अ. 1.28

– रेफं बर्स्व्यमेके। ऋ.प्रा. 1.46

रेफ–सन्धि ऐसी सन्धि, जिसमें विसर्जनीय का रेफ होता है। स्वर और घोष–वर्ण बाद में हो तो विसर्जनीय का रेफ हो जाता है।

यथा : *प्रातः अग्निम्=प्रातरग्निम्।* शु.य. 34.34

सवितः वामम्=सवितर्वामम्। शु.य. 8.6

– सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफं रेफी ते पुना रेफसन्धयः।

ऋ.प्रा. 4.27

- प्रातः। ऋ.प्रा. 1.81
- रेफमेतेषु। तै.प्रा. 8.6
- रेफं स्वरधौ। वा.प्रा. 4.37
- नाम्युपधस्य रेफः। च.अ. 2.42
- घोषवती च। च.अ. 2.43

विशेष ऋ.प्रा. के अनुसार रिफित विसर्जनीय का रेफ होता है, जब कि वा.प्रा. के अनुसार रिफित और अरिफित दोनों ही विसर्जनीय का रेफ होता है। च.अ. के अनुसार विसर्जनीय के उपधा में 'अ' 'आ' वर्जित (नामिन्) स्वर होने पर रेफ होता है।

रेफिन् विसर्जनीय। जिसके पूर्व में 'अ', 'आ' छोड़कर कोई भी (नामिन्) स्वर हो 'महः' 'अयः' पद, अन्तोदात्त 'अन्तः' पद, स्वर का विपर्यय होने पर 'अक्षाः' पद और स्पर्श परे रहने पर पूर्व पद में स्थित 'उषः' पद रेफि-संज्ञक है।

यथा : *अग्निः । अस्मि=अग्निरश्मि जन्मना।* ऋ.सं. 3.26.7

अवः । मह। इन्द्र। ऋ.सं. 1.133.6

अपः । क = अपस्कः। ऋ.सं. 7.21.3

अन्तः। इच्छन्ति= अन्तरिच्छन्ति तं जने। ऋ.सं. 8.72.3

अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः। ऋ.सं. 9.107.9

उषः उबुधः। आ। वह। उषर्बुध आ वह।

ऋ.सं. 1.44.9

- उष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वः। ऋ.प्रा. 1.76

विशेष विस्तृत विवरण के लिए देखें ऋ.प्रा.1.77 से 1.103 तक।

ल

लघु [1] ह्रस्व अक्षर। व्यञ्जन-सहित ह्रस्व अक्षर लघुसंज्ञक होता है।

यथा : *क, कि कु।* ऋ.सं. 5.52.6

– लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम्। ऋ.प्रा. 18.43

लघु [2] अव्यवहित संयुक्तवर्ण-रहित अक्षर।

यथा : *मित्रमहो अवधात् ।* ऋ.सं. 4.4.15

– लघु ह्रस्वं न चेत् संयोग उत्तरः। ऋ.प्रा. 18.38

लघु [3] ह्रस्व स्वर। ह्रस्व स्वर लघु-संज्ञक होता है जो व्यञ्जनान्त न हो और जिसके अव्यवहित उत्तर में संयुक्तवर्ण अथवा अनुस्वार न हो।

यथा : *हितेनेव ज्यामसि। भुवनमसि।* हरिरसि।

– लघु ह्रस्वं न चेत्संयोग उत्तरः। ऋ.प्रा. 18.38

– अनुस्वारश्च। ऋ.प्रा.। 18.39

– लघुसव्यञ्जनं ह्रस्वम्। ऋ.प्रा. 18.43

– लघीयो व्यञ्जनादृते। ऋ.प्रा. 18.44

– अव्यञ्जनान्तं यद् ह्रस्वमसंयोगपरं च यत्।
अननुस्वारसंयुक्तं यत् तत्लघु निबोधत। तै.प्रा. 22.15

– ह्रस्वं लघ्वसंयोगे। च.अ.1.5

विशेष [1] लघु के उपरिलिखित लक्षणों में ह्रस्व-स्वर को छोड़ कर शेष विधान प्रायः छन्द के लिए उद्दिष्ट हैं।

– व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीन श्वासनादः। च.अ. 1.43

– क्रमजञ्च पूर्वान्तसस्तरं भवति। च.अ. 21 पर टीका।

– स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानः। ऋ.तं. 1.44

विशेष [2] अभिनिधान शब्द 'अभि' तथा 'नि' उपसर्ग-पूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न हुआ है। अभिनिधान का शाब्दिक अर्थ है समीप रखना।

विशेष [3] तै.प्रा. में अभिनिधान आगम के रूप में होने के कारण इसका निर्वचन आरोपण, प्रक्षिप्य तथा प्रक्षिप्यमाण तुल्य शब्दों से किया गया है।

विशेष [4] व्याडि के मत में अभिनिधान का सर्वत्र लोप होता है लेकिन ऋक्-प्रातिशाख्यकार के अनुसार जब परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व हुआ हो अथवा पूर्व में स्वर अथवा रेफ हो तो अभिनिधान का लोप नहीं होता।

– व्याडेः सर्वत्राभिनिधानलोपः। ऋ.प्रा. 6.43

– पराक्रमस्वररेफोपधे न। ऋ.प्रा. 6.44

विशेष [5] 'अभिनिधान' को ऋ.प्रा. में विच्छेद तथा च.अ. में आस्थापित शब्द से अभिहित किया गया है। आस्थापित का अर्थ रोका हुआ और विच्छेदक का अर्थ पृथक् किया हुआ है।

– विच्छेदात् स्पर्शोष्मपराच्च घोषिणः। ऋ.प्रा. 6.47

– आस्थापितं च। च.अ. 1.48

लघुतर व्यञ्जन-सहित ह्रस्व अक्षर।

– लघीयो व्यञ्जनादृते। ऋ.प्रा.18.44

लेश वर्णगत दोष। प्रयत्न-शैथिल्य (उच्चारण-दोष)।

प्रयत्न-शैथिल्य से वर्णों का उच्चारण।

यथा : *उत्स्नाय* । ऋ.सं 2.15.5

महाँ य् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः। वा.सं. 7.39

– लेशेन वा वचनं पीडनं वा। ऋ.प्रा. 14.17

- लेशो वात्सप्रस्येतयोः। तै.प्रा. 10.23
- लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणं। तै.प्रा. 10.23 पर त्रिभा.र.
- लेशः एकदेशयथोक्तविषये लुप्यते।

तै.प्रा. 10.23 पर वै.भा.

तुल. ब्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य। पा.सू. 8.3.18

- लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनस्य। च.अ. 2.24
- यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः। वा.प्रा. 4.127
- अर्धं वा। ऋ.तं. 161

लेशवृत्तिः द्र. लेश।

लोप अदर्शन। वर्ण का अदर्शन, अश्रवण, अनुच्चारण, अनुपलब्धि, अभाव और विनाश।

यथा : *सत्याः नः=सत्या नः।* शु.य. 2.10

- विनाशो लोपः। तै.प्रा. 1.57
- वर्णस्यादर्शनं लोपः। वा.प्रा. 1.141

परा. लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः।

ऋ.प्रा. वि.वृ. 5

परा. लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य। च.अ. 2.18

प्रकृतिस्थस्तु यश्शब्दः संहितायां न दृश्यते तत्स्थाने च न शब्दोऽन्यस्य लोपी नश्वरोपमः।

तै.प्रा. 1.23 पर वै.भा.

तुल. अदर्शनं लोपः। पा.सू. 1.1.52

विशेष ' ऋ.प्रा. एवं च.अ. में 'लोप' शब्द की परिभाषा नहीं की गई है किन्तु पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है।

विशेष[2] काशिका में लोप के पर्याय के रूप में अदर्शन, अश्रवण, अनुच्चारण, अनुपलब्धि, अभाव तथा वर्ण-विनाश शब्द का प्रयोग मिलता है।

– अदर्शनमश्रवणमनुच्चारणमनुपलब्धिरभावो वर्णविनाश इत्यनर्थान्तरम्। एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तस्य लोप इतीयं संज्ञा भवति। पा.सू. 1.1.52 पर काशिका।

लोमश्य कठोरता के साथ उच्चारण (दोष)। कठोरता के साथ ऊष्म वर्णों का अस्पष्ट उच्चारण।

यथा : *लोमश्यं च क्ष्वेडनमुष्मणां तु।* ऋ.प्रा. 14.20

– उष्मणां त्वघोषाणां लोमश्यं नामासौकुमार्यम्।

ऋ.प्रा. 14.20 पर उ.भा.

व

वर्ग स्पर्शवर्ण-विभाग। स्पर्शवर्णों के पाँच-पाँच वर्णों के पाँच वर्ग।

यथा : कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग।

– पञ्च ते पञ्चवर्गाः। ऋ.प्रा. 1.8

– स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्चवर्गाः। तै.प्रा. 1.10

– प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या। तै.प्रा. 1.27

– प्रथमग्रहणे वर्गम्। वा.प्रा. 1.64

– स्पर्शे र्गस्य। ऋ.तं. 13

वर्ण[1] द्र. अक्षर

वर्ण[2] अक्षर-निर्देशक। वर्ण अक्षरों (स्वरों) के निर्देशक हैं।

यथा : अवर्ण, इवर्ण आदि। वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्यः।

तै.प्रा. 1.16

– वर्णकारौ निर्देशकौ। तै.प्रा. 22.4

– वर्ण इति पूर्वः। कारादाख्यायाम्। व्यञ्जनमकारपूर्वात्।
ऋ.तं.प्र.प्र.3

वर्णसमाम्नाय उपदिष्ट वर्ण। प्रातिशाख्यों में उपदिष्ट वर्णपाठ वर्णराशि, अक्षरसमाम्नाय, ब्रह्मराशि तथा उपदेश आदि शब्दों से भी कहा गया है।

यथा : – अथ वर्णसमाम्नायः। तै.प्रा. 1.1
– अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः। वा.प्रा. 8.1
– इति वर्णराशिः क्रमश्च। ऋ.प्रा.वि.व.वृ.10
– तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। ऋ.तं.प्र.प्र.4
– एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः। वा.प्रा. 8.25
– ब्रह्मराशिरिति च ब्रह्मराशिरिति च। ऋ.तं.प्र.प्र.4
– उपदिष्टाः वर्णाः, वा.प्रा.1.34
– उत्पन्नानां वर्णानामुपदेशोद्देशाः उपदेशे प्रत्याहारः।
ऋ.तं. 1.1

तुल. म.भा. आह्निक–2

विशेष[1] तै.प्रा. 1.1 पर वै.भा. में वर्णसमाम्नाय की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णा अकारादयः। समित्युपसर्गस्सहत्वं द्योतयति। आम्नानमभ्यासः। यत्र समुदितानामभ्यासः क्रियते स समाम्नायः।

विशेष[2] वर्णों की संख्या के विषय में प्रातिशाख्यों में मतभेद है। ऋ.प्रा. में पचास वर्ण परिगणित हैं, जिनमें आठ समानाक्षर (अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ), चार सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) एवं ऌ, पच्चीस स्पर्श (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म), चार अन्तःस्थ

(य, र, ल, व), चार ऊष्म (ह, श, ष, स), अनुस्वार (अं), विसर्जनीय (अः), जिह्वामूलीय (क), उपध्मानीय (फ)।

तै.प्रा. में साठ वर्ण परिगणित हैं, जिनमें सोलह स्वर (अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ), पच्चीस स्पर्श, चार अन्तस्थ, छह ऊष्म (ह, श, ष, स, ... क, ...फ), नौ अयोगवाह (अनुस्वार, विसर्जनीय, ळ, नासिक्य, चार यम, स्वरभक्ति) हैं।

वा. प्रा. में पैंसठ वर्ण परिगणित हैं, जिनमें बीस स्वर (अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ॠ3, लृ, लॄ, लॄ3, ए, ए3, ऐ, ऐ3, ओ, ओ3, औ, औ3), पच्चीस स्पर्श, चार अन्तःस्थ, चार ऊष्म और अयोगवाह (क, फ, अं, अः, हुँ, नासिक्य, कुँ खुँ गुँ घुँ यम) हैं।

ऋ.तं. में सत्तावन वर्णों का निर्देश है, जिनमें चौदह स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ), पच्चीस स्पर्श, चार अन्तःस्थ, चार ऊष्म, नौ अयोगवाह) (अः ...... क, ... प, कुं, खुं, गुं, घुं, अं, आं) हैं।

अथर्ववेद परिशिष्ट में पठित 'वर्णपटल' वर्णसमाम्नाय है, जिनमें पैंसठ वर्ण परिगणित हैं– बाईस स्वर, (अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ॠ3, लृ, लॄ, ए, ए3, ऐ, ऐ3, ओ, ओ3, औ, औ3) पच्चीस स्पर्श, चार अन्तःस्थ, आठ ऊष्म (ह, श, ष, स, क, प, अं, अः), छह अयोगवाह (नासिक्य, चार यम, अभिनिधान)।

पाणिनीय-शिक्षा में वर्णों की संख्या तिरसठ अथवा चौंसठ परिगणित है, जिनमें पच्चीस स्वर, पच्चीस

स्पर्श, चार अन्तःस्थ, चार ऊष्म, दुःस्पृष्ट, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय। (दुःस्पृष्ट को वर्ण नहीं मानने पर वर्णों की संख्या तिरसठ होती है।

विशेष[3] ऊपर प्रातिशाख्यों के वर्ण-समाम्नायों में वर्णों की संख्या में जो वैभिन्न्य दीखता है, वह शाखाओं की भिन्नता के कारण है। प्रातिशाख्यों का वैशिष्ट्य यही है कि स्व-स्व शाखाओं में प्रयुक्त वर्णों को सुस्पष्टतया पृथक्-पृथक् करके दिखला दिया गया है ताकि कोई संशय न रहे। पा.शि. में वर्णों की उच्चतम संख्या तिरसठ या चौंसठ दिखलाई गई है, वह इसलिए कि पा.शि. वेद और संस्कृत (लौकिक) दोनों के लिए है।

वर्णप्रकृति वर्णोत्पत्ति का मूल (उपादान) कारण। नाद, श्वास, नादश्वास (उभय) और (हकार)।

– ताः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति। ऋ.प्रा. 13.3

– ता वर्णप्रकृतयः। तै.प्रा. 2.7

वर्णराशि द्र. वर्णसमाम्नाय।

वर्णसंहिता वर्णसंयोग। एक पद में एक से अधिक वर्णों (स्वर-व्यञ्जनों) का संयोग।

यथा : *पितॄणां सदनमसि।* तै.सं. 1.3.1

– यथास्वमक्षरसंहितादीनामप्येवम्। तै.प्रा. 24.4

वर्धमाना गायत्री गायत्री छन्द का एक भेद। एक-एक अक्षर से उत्तरोत्तर बढ़ने वाली तीन पाद वाली गायत्री।

यथा : *त्वमग्ने यज्ञानाम्।* ऋ.सं. 6.16.1

– उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः गायत्री वर्धमानैषा। ऋ.प्रा. 16.24

वशंगम सन्धि व्यञ्जनों (पदादि/पदान्त) का सस्थानिक समीपवर्ती व्यञ्जनों में परिवर्तित होना।

यथा : *यत्। वा=यद्वा दिवि पार्येसुष्विमिन्द्र। ऋ.सं. 8.100.10*
तत्। नो=तन्नोमित्रोवरुणः। ऋ.सं. 1.10.8
विपाट्। शुतुद्री=विपाट्छुतुद्री पयसा। ऋ.सं. 3.33.1
अवाट्। हव्यानि=अव्यानि सुरमीणिकृत्वी। ऋ.सं.10.15.12
अहन्। च=अहञ्च त्वञ्च वृत्रहन्। ऋ.सं.8.62.11
यम्। ऽयम्। युज्यम्=यरँ यरँ युजं कृणुते। ऋ.सं.2.25.1
यः। जिजीवान्। लक्षम्=यो जिजीवाँल्लक्षमादत्।
ऋ.सं. 2.12.4
मघवन्। शग्धि= मघवञ्छग्धितवतन्न। ऋ.सं. 8.24.11
अङ्गात्। लोमृनः ऽलोम्नः = अङ्गालोम्नो - लोम्नः तत्। चक्षुः = तच्चक्षुर्देवहितम्। ऋ.सं. 7.66.16
वज्रिन्। शनथिहि=वज्रिञ्छनथिहि। ऋ.सं 1.63.5

घोषवत्पराः प्रथमास्तृतीयान्स्वान्। उत्तमानुत्तमेषूदयेषु।
सर्वैः प्रथमैरूपधीयमानः शकारः शाकल्ययितश्छकारम्।
पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतैस्तेषां चतुर्थानुदयोहकारः।
विस्थानेस्पश उदये मकारः सर्वेषामेवोदयस्योत्तमं स्वम्
अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकांतु
तथा नकारउदये लकारे अकारं शकारस्य चकारवर्गयोः
तकारो जकार-लकारयोस्तौ तालव्येऽघोष उदये चकारम्।
छकारं तयोरूदयः शकारः न शाकल्यस्य।

ऋ.प्रा. 4.2-14, तै.प्रा. 5.22, 24, 25, 27, 38, 8.2, 1.13.2, वा.प्रा. 4.1, 4, 10, 12, 13, 95, 96, 97, 122, 123, ऋ.तं. 173, 174, 176, 178, 179, 180, 181। च.अ. 2.7, 10, 11, 13, 17, 31, 32, 35

तुल. पा.सू. 8.4.40, 45, 58, 59, 60, 62, 63

विशेष ऋ.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में वशंगम संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु इस सन्धि का विधान हुआ है।

वाक् वर्णरूप, पुरुष (आभ्यन्तर-बाह्य) प्रयत्न से वायु का वर्णरूप में परिवर्तन।

-स सङ्घातादीन् वाक्। वा.प्रा. 1.9

'तस्येदानीं नदतेर्जिह्वाग्रेणेर्यमाणस्य व्यक्तयः प्रादुर्भवन्ति वर्णानाम्....।'
ऋ.तं.प्र.प्र.

वाचस्थान वाणी का स्थान (अवस्था)। ऋ.प्रा. के अनुसार वाचस्थान तीन हैं- मन्द्र, मध्यम तथा उत्तम, जब कि तै.प्रा. के अनुसार सात हैं- उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम और तार।

- त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्त यमानि वाचः।
ऋ.प्रा. 13.42

- सप्त वाचस्स्थानानि भवन्ति। तै.प्रा. 23.4

- उपांशु-ध्वान-निमदोपब्दिमन्मन्द्र-मध्यमताराणि। तै.प्रा. 23.5

(विस्तृत जानकारी के लिए तत्-तत् शब्दों यथा- उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम, तार को देखें)

वायु प्रकृति (मूल-कारण)। कुछ आचार्यों के अनुसार शब्दोत्पत्ति में वायु मूल कारण है।

- वायुं प्रकृतिमाचार्याः। ऋ.तं. प्र.प्र.1

वारि विराट् संकृति। द्र. ताराड्।

विकार सन्धि-परिवर्तन। सन्धि-कार्य के प्रसंग में एक वर्ण का वर्णान्तर में परिवर्तन।

यथा : *पदपाठ (सुसुम्। आ), सँहितापाठ (सुषुमा यातम्।*

ऋ.सं. 1.137.1

- गुरुत्वं प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। ऋ.प्रा. वि.वृ. 5
- प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य स्थाने यस्यापरो भवेत्।
  स्वतो गुणान्तरोपेतः स विकारीह तत्समः।।

तै.प्रा. 1.23 पर वै.भा.

- अ विकारस्य। तै.प्रा. 1.28
- तमिति विकारः। वा.प्रा. 1.133
- मान् विकारः। ऋ.तं. 64

तुल. प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः। पा.सू. 4.134 पर काशिका।

विकृतिः बानवे अक्षरों वाला छन्द।

यथा : *मेषी। तुल. प्रै.* पृ.124.125

- मेषी विकृतिरुच्यते। ऋ.प्रा. 16.92

विक्रम स्वरित-स्वरित, उदात्ता-उदात्त, स्वरित-उदात्त एवं उदात्त- स्वरित के बीच आया नीच (अनुदात्त) स्वर। कौण्डिन्य आचार्य के मत में प्रचयपूर्व उदात्त, प्रचयपूर्व स्वरित के मध्य आगत अनुदात्त (नीच) स्वर।

यथा : 1. स्वरित-स्वरित

योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि। तै.सं. 5.7.9

2. *उदात्त-उदात्त=*

वोढ्वे। तै.सं. 1.6.2

3. *स्वरित-उदात्त*

धन्वना गाः। तै.सं. 4.6.6

4. *उदात्त-स्वरित*

तस्य क्व सुवर्गो लोकः। तै.सं. 2.6.5

5. *प्रचय-पूर्वक उदात्त*

पर्यवदतां या। तै.सं. 1.7.2

6. *प्रचय-पूर्वक स्वरित*

उपरिष्टाल्लक्ष्मायाज्या। तै.सं.2.6.2

- स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै.प्रा. 19.1
- प्रचय-पूर्वश्च कौण्डिन्यस्य। तै.प्रा. 19.2

विशेष विक्रमस्वर-युक्त उच्चारण करना चाहिए।

क्रमविक्रम सम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्। तै.प्रा. 23.24

विक्रम दो स्वरितों अथवा दो उदात्तों के मध्य में उदात्त और स्वरित के मध्य में अनुदात्त हो तो वह (अनुदात्त) विक्रम-संज्ञक होता है।

स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचस्यादुदात्तयोर्वान्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रम। तै.प्रा. 1.19.1

विक्रमण द्वित्व का अभाव। उच्चारणकाल में नियम से प्राप्त द्वित्व का अभाव।

यथा : *व्यत 'शूरो यो युत्स, तन्वं परि व्यत'।* ऋ.सं. 2.17.2

द्रप्सः। ऋ.सं. 10.17.11

यहाँ ऋ.प्रा. 6.1 से 'वकार' को प्राप्त द्वित्व का अभाव है।

- संयोगानां स्वरभक्त्या व्यवायो। विक्रमणं क्रमणं वा यथोक्तम्।

ऋ.प्रा. 14.58

विक्रान्त-सन्धि पदादि क, ख, प, फ, श, ष, स होने पर पदान्त विसर्जनीय का विकल्प से अविकृत रहना।

यथा : *यः ककुभो निधारयः=यः ककुभो निधारयः।*

ऋ.सं. 8.41.4

यः पञ्च। चर्षणीरभि= यः। पञ्च चर्षणीरभि।

ऋ.सं. 7.15.2

यः वः शिवऽतम। रसः। =यो वश्शिवतमो रसः।

ऋ.सं. 10.9.2

देवीः। षट्। उर्वीः। = देवीः षलुर्वी। ऋ.सं. 10.128.5

ये। नः। स ऽपत्नाः। अप। ये नस्सपत्ना अप।

ऋ.सं. 10.128.9

– व्यापन्न ऊष्मसन्धिः स विक्रान्तः प्राकृतोपधः।

ऋ.प्रा.4.35

– अविकारं शाकल्यः शषसेषु। वा.प्रा. 3.10

– प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च। वा.प्रा. 3.11

– न क्षपरः। तै.प्रा. 9.3

– कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः। तै.प्रा. 9.4

– ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्। तै.प्रा. 9.5

– न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः। तै.प्रा.9.6

विशेष ' नृँः प्रणेत्रं नृः पात्रं, स्वतवाँ पायुः, नृँ पायिः, जैसे शब्दों में जहाँ नकार के स्थान पर विसर्जनीय हुआ है, वह भी अविकृत रहने से विक्रान्त सन्धि कहलाती है। परन्तु वह विसर्जनीय विकल्प से ऊष्म वर्ण में परिणत नहीं होता।

– नृँः पतिभ्यो, नृँः प्रणेत्रं, नृँः पात्रं, स्वतवाँ पायुः। सन्धिर्विक्रान्त एवैषः। ऋ.प्रा. 4.78

- नॄँः पाहिः शृणुधीतिच। ऋ.प्रा. 4.79
- नॄन् पकारे विसर्जनीयम्। वा.प्रा. 3.140

विशेष[2] वा.प्रा. तथा तै.प्रा. में विक्रान्त-संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु इस सन्धि का विधान हुआ है।

विक्लिष्ट असंयुक्त (विकृष्ट) जबड़ों की स्थिति में वर्ण का अस्पष्ट उच्चारण।

- प्रकर्षणे तद् विक्लिष्टमाहुः। ऋ.प्रा. 14.7

विच्छेद[1] द्र. यम।

विच्छेद[2] द्र. अभिनिधान।

विधि विधान (प्रकृति)।

- विधिर्विधानं प्रकृतिरित्यर्थः। तै.प्रा. 5.2, पर त्रिभा.र.
- यथायुक्ताद्विधिस्सा प्रकृतिः। तै.प्रा. 5.2 पर वै.भा.
  तै.प्रा. 24.5 पर वै.भा.
- नैकारौकारयोः स्थानविधौ। च.अ. 1.41

तुल. विधीयते विधिरिति। पा.सू. 2.1.1 पर म.भा.
विधानं विधिः। पा.सू. 1.1.57 पर म.भा.

विशेष प्रातिशाख्यों में विधि-शब्द का प्रयोग तो हुआ है किन्तु परिभाषा नहीं दी गई है।

विनाम द्र. नति।

विनाश द्र. लोप।

विनिवर्तक विशेष रूप से निवर्तक (प्रतिषेधक)। प्राप्त सामान्य विधि का निषेध करके विशेष विधि का विधायक।

यथा : तु, अथ, एव आदि। तै.प्रा. 1.19

- त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः। तै.प्रा. 22.6

– तु, अथ, एव इत्येते शब्दा यथाक्रमेण विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः भवन्ति। तै.प्रा. 22.6 पर वै.भा.

विशेष : *विशेषेण निवर्तयतीति विनिवर्तकः।*

विपरीता पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद। इस छन्द में द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में बारह-बारह अक्षर तथा प्रथम एवं तृतीय चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं।

यथा : *य ऋष्वः श्रायवत्सखाः।* ऋ.सं. 8.46.12

– विपरीता विपर्यये। ऋ.प्रा. 16.58

विपरीतान्त-प्रगाथ छन्द-विशेष। बार्हत से प्रारम्भ होकर विपरीता में जिसका अन्त हो, ऐसा प्रगाथ।

यथा : *न हि ते शूर राधसः।* ऋ.सं. 8.146.11-12

– नहि ते विपरीतान्तः। ऋ.प्रा. 18.15

विपर्यय विद्यमान स्वरभक्ति का अनुच्चारण।

यथा : *भरद्वाजान्सार्ञ्जयो अभ्ययष्ट।* ऋ.सं. 6.47.25

– विपर्ययो वा। ऋ.प्रा. 14.58

विभाषा विकल्प। एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्ये। च.अ. 1.2

तुल. न वेति विभाषा। पा.सू. 1.1.44

– नेति प्रतिषेधे वेति विकल्पस्तयोः प्रतिषेध-विकल्पयोर्विभाषेति संज्ञा भवति। पा.सू. 1.1.44 पर म.भा.

विशेष प्रातिशाख्यों में से केवल च.अ. में ही विभाषा का प्रयोग हुआ है।

विराट्स्थाना त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् छन्द का एक भेद। इस छन्द के चारों चरणों के अक्षरों की संख्या में एकरूपता नहीं होती। इसमें एक या एक से अधिक चरणों में नौ या दश अक्षर होते हैं तथा एक या एक से अधिक चरणों में ग्यारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार

कुल मिलाकर इस छन्द में कहीं चालीस अक्षर होते हैं तो कहीं उनतालीस तथा कहीं इकतालीस अक्षर भी होते हैं।

यथा: *श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः।* ऋ.सं. 2.11.1।

– नवको दशको वा स्यादेकोऽनेकोऽपि त्रिष्टुभः।।
एकादशाक्षरश्चापि विराट्स्थाना ह नाम सा।

ऋ.प्रा.16.67

विराट् छन्दोगत संज्ञा। दो अक्षरों से न्यून होने पर विराट्-संज्ञा होती है। निश्चित अक्षरों वाले छन्दों का दो या दो से अधिक अक्षरों से न्यून होने पर जिस छन्द का अधिकार चलता है, उसकी विराट्-संज्ञा होती है।

यथा : याः काश्चिद्बहुपादास्तु गायत्र्यो हीनतां गताः।
अक्षरैर्बहुभिस्तास्तु गायत्र्य उपधारयेत्।। ऋ.प्रा. 17.4

– विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विषये स्थिताः।

ऋ.प्रा.17.3

विराट् विराट् उष्णिक्। द्र. ताराड्।

विराट् अनुष्टुभ् अनुष्टुभ् छन्द का एक भेद। जिसके तीन चरणों में दश-दश अथवा ग्यारह-ग्यारह अक्षर हों, वह।

यथा : *श्रुधी हवं वि पिपानस्याद्रेः। दशाक्षरा विराट्।*

ऋ.सं.7.22.4

यथा : अग्न इन्द्रश्न दाशुषो दुरोणे। एकादशाक्षरा विराट्।

ऋ.प्रा.3.25

– दशाक्षरास्त्रयो विराट् त्रयो वैकादशाक्षराः।

ऋ.प्रा.16.42

विराट् पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद। इस छन्द में दश-दश अक्षरों के चार चरण होते हैं।

यथा : *मन्ये त्वा यज्ञीयं यज्ञियानाम्०।* ऋ.सं. 8.96.4

– चत्वारो दशका विराट्। ऋ.प्रा. 16.55

विराड्रूपा त्रिष्टुभ् त्रिष्टुभ् का एक भेद। इस छन्द में प्रथम तीन चरण ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के तथा अन्तिम चरण आठ अक्षरों का होता है।

यथा : *क्रीडन्नो रश्म आ भुवतः।* ऋ.सं. 5.19.5

– त्रयश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः परः।

विराड्रूपा ह नामैषा त्रिष्टुब्नाक्षरसम्पदा।

ऋ.प्रा. 16.69

विराट्कामा द्र. हर्षिका।

व्यवधान पादपूरणार्थ सन्धिविच्छेद। न्यूनाक्षर पादपूर्ति के लिए सन्धि-विच्छेद (पृथक्-करण)। पादपूर्ति के लिए सन्धियों को तोड़ कर एक अक्षर के स्थान पर दो अक्षर बनाना।

यथा : प्रेता जयता नरः।

– व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु संपदे। ऋ.प्रा. 17.22

विराट्पूर्वा त्रिष्टुभ् छन्द का एक भेद। इस छन्द में प्रथम दो चरण दश-दश अक्षरों के तथा अन्तिम तीन चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। इस छन्द को 'पङ्क्त्युत्तरा' भी कहते हैं।

यथा : *एवेन्द्राग्निभ्यामहाविहव्यम्।* ऋ.सं. 5.86.6

– पूर्वौ दशाक्षरौ पादा उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः।

विराट्स्थाना ह नामैषा त्रिष्टुभ् पङ्क्त्युत्तरैव वा।।

ऋ.प्रा.16.68

विराम अनुच्चारण काल, व्यवधान काल। तै.प्रा. के अनुसार विराम के चार भेद हैं- ऋग्विराम, पद-विराम, विवृत्ति-विराम तथा समानपदविवृत्तिविराम। समानपदविवृत्ति-विराम, जो क्रमशः

त्रिमात्रिक, द्विमात्रिक, एकमात्रिक तथा अर्धमात्रिक होते हैं।

– ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण।। तै.प्रा. 22.13

विशेष[1] ऋक्तन्त्र दो ध्वनियों (वर्णों), दो स्वरों, अवसान, अर्धर्चान्त, गाथा और साम में विराम मानता है, जो क्रमशः परमाणु–मात्रिक अर्थात् 1/8 मात्रिक, अर्धमात्रिक, मात्रिक, द्विमात्रिक और मात्रिक होता है।

– वर्णान्तरं परमाणु–स्वरयोरर्धमात्रा, विरामे मात्रा,
नित्यविरते द्विमात्रम्, गाथासु त्रिमात्रं सामसु।
ऋ.तं. 34–39

तुल. विरामोऽवसानम्। पा.सू. 1.4.110

– विरतिर्विरामः। विरम्यते अनेन इति वा विरामः।
पा.सू. 1.4.110 पर काशिका।

द्र. पा.सू. 1.4.109 और 1.4.110 पर म.भा.।

– विरामो वर्णयोर्मध्ये ह्यनुच्चारणकालोभ्यसंयुते।

व्यासशिक्षा 27.5

विशेष [2] विराम की परिभाषा किसी भी प्रातिशाख्य में नहीं की गई है। ऋ.प्रा. और वा.प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में विराम–संज्ञा का प्रयोग एवं इसमें कालकृत भेदों का विश्लेषण किया गया है।

विलम्बिता वृत्ति वृत्ति (उच्चारण–गति) का एक प्रकार। इस वृत्ति में उच्चारण–गति (पञ्चकलात्मक) होती है।

पञ्चकला विलम्बितायाम्। ऋ.तं. 33

विशेष द्र. वृत्ति।

विवृत [1] अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न), कण्ठद्वार की विकासावस्था (विवृतावस्था)

में उत्पन्न ध्वनि। यह श्वास-ध्वनि है।

- वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य श्वे विवृते संवृते वा, आपद्यते श्वसतां नादतां वा वस्त्रीहायाश। ऋ.प्रा. 13.1
- विवृते श्वासः। तै.प्रा. 2.5
- विवृतोऽघोषो। ऋ.तं.प्र.प्र. 3

विवृत [2] आभ्यत्तर प्रयत्न। वर्णोत्पत्ति के पूर्व जब जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल तत्तद् वर्णों के उत्पत्ति-स्थान ताल्वादिकों से दूर में अवस्थित हों तो विवृत प्रयत्न होता है।

यथा : स्वर और ऊष्म वर्ण।

- विवृतं स्वरोष्मणाम्। ऋ.तं. प्र.प्र.3
- ऊष्मणां विवृतं च स्वराणाञ्च। च.अ. 1.31-32
- विवृतास्यप्रयत्ना इतरे स्वराः।

यथा : अस्पृष्टास्यप्रयत्नाः स्वराः। वा.प्रा. 1.72 पर उव्वट
दीर्घप्लुतयोः अवर्णयोः विवृतत्वम्। वा.प्रा.172 अ.भा.।

तुल. तत्रोत्पत्तेः प्राक् यदा जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि तत्तद्वर्णोत्पत्ति-स्थानानां ताल्वादीनां दूरत वर्तन्ते तदा विवृतता।
पा.सू. 1.1.9 पर तत्त्वबोधिनी, शब्दकौस्तुभ।

विशेष [1] विवृत प्रयत्न के प्रसंग में ऋ.तं. जहाँ 'विवृत' और 'विवृततर' दो कोटियाँ निर्धारित करता है, वहाँ च.अ. तीन कोटियों का निर्धारण करता है- विवृत, विवृततम और अति-विवृततम।

विशेष [2] शिक्षा-ग्रन्थों और व्याकरण-ग्रन्थों में विवृत प्रयत्न में कोटिगत भेद दर्शाते हुए इसके पाँच भेद किए गये हैं- ईषद्विवृत (ऊष्मवर्ण), विवृत (द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक), अ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ॠ, विवृततर (ए, ओ), विवृततम (ऐ, औ), विवृततम (आ)।

विवृततम विवृत (आभ्यन्तर प्रयत्न) का भेद। एकार और आकार में प्रयत्न विवृततम होता है।

- एकारौकारयोर्विवृततमम्। च.अ. 1.34
- ततोऽप्याकारस्य। च.अ. 1.35

विवृततर विवृत (आभ्यन्तर प्रयत्न) का भेद। अकार, एकार और ओकार का प्रयत्न विवृततर होता है।

- विवृततरमकारैकारौकाराणाम्। ऋ.तं.प्र.प्र.3

तुल. यदत्रावर्णं विवृततरं तदन्यस्मादवर्णात्।

शिवसूत्र 3, 4 पर वार्तिक 10

विवृत्ति दो स्वरों के मध्य काल का व्यवधान। पदान्त और पदादि स्वरों में प्राप्त सन्धि का अभाव।

यथा : *नू इत्था ते पूर्वथा च।* ऋ.सं. 1.1.32.4

- स्वरान्तरं तु विवृत्तिः। ऋ.प्रा. 2.3
- स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः। तै.प्रा. 20.6 पर वै.भा.
- स्वरयोरनन्तरयोरन्तरं विवृत्तिरुच्यते।

वा.प्रा.1.119 पर उ.भा.

- विवृत्तिरसन्धिः। वा.प्रा. 7.6 पर, उ.भा.

तुल. द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम्।। पा.शि. 94

द्र. शिक्षावल्ली, विवरणं विवृत्तिः स्वरयोः पृथगुच्चारणम्।
पा.शि. (पञ्जिका-भाष्य)

विशेष' उब्बट-भाष्य के अनुसार ऋ.प्रा. 2.4 पर

(1) दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्ति ¼ मात्रा की होती है।

यथा : *प्र ऋभुभ्यः।* ऋ.सं 4.33.1

एक ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति अर्धमात्रिक।

यथा : नू इत्थ ते।

(2) दोनों ओर दीर्घ स्वरवाली विवृत्ति तीन चौथाई ¼ मात्रा काल वाली होती है।

यथा : *ता. ई. वर्धन्ति।* ऋ.सं. 1.153.3

(3) तै.प्रा. 22.13 के अनुसार विवृत्ति एकमात्रा-कालिक है।

यथा : *स इधानः।* तै.सं. 4.4.4

किन्तु एक ही पद के मध्य विद्यमान विवृत्ति अर्धमात्रा कालिक होती है।

यथा : *प्रउगम्।* तै.सं. 4.4.2,3

विशेष[2] ऋ.प्रा. को छोड़कर अन्य प्रातिशाख्यों में विवृत्ति का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग तो किया गया है किन्तु इसकी परिभाषा नहीं दी गई है।

विवृत्यभिप्राय सन्धि सन्धि-विशेष पदादि अन्तःस्थ रहने पर अन्नान्, दधन्वान्, जुर्जुवान्, स्ववान् के पदान्त 'न्' का लोप होना।

यथा : *पीवोअन्नान्। रयिऽवृधः= पीवोअन्नाँ रयिवृधः; दधन्वान्। यः । दधन्वाँ यः; जुर्जुवान्। य=जुर्जुवाँयः; स्ववान्। यातु=स्ववाँ यातु; दद्वान् । वा=दद्वाँ वा।* ऋ.सं. 7/91/3, 9/107/1, 2/4/5, 1/11/81, 110/132/3

– विवृत्यभिप्रायेषु च पीवो अन्नाँ रयिवृधः।

दधन्वाँ यो जुर्जुवाँ यः स्ववाँ यातु दद्वाँ वेति।

ऋ.प्रा. 4.68

– दधन्वान् स्ववान्यकारे लोपम्। वा.प्रा. 3.136

– रयिवृधे च। वा.प्रा. 3.137

विशेष तै.प्रा., ऋ.तं. और च.अ. में विवृत्त्यभिप्राय संज्ञा का प्रयोग नहीं है।

विश्रम्भ द्र. मार्दव।

विषमपदा बृहती बृहती का एक भेद। इस छन्द में तीन (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय) चरण क्रमशः नौ, आठ एवं ग्यारह अक्षरों के तथा अन्तिम (चतुर्थ) आठ अक्षरों का होता है।

यथा : *सनितः सुशनितरुग्र।* ऋ.सं. 8.46.20

नवकाष्टदशसहैकः परमोष्ट चयादि पादाः।

बृहती विषमपदा सा सनितः सुसनितरुग्र।। ऋ.प्रा.16.53

विषमरागता। अशुद्ध अनुनासिक उच्चारण (दोष)। सानुनासिक का निरनुनासिक तथा निरनुनासिक का सानुनासिक उच्चारण।

यथा : *अभ्र आँ अपः।* ऋ.सं. 5.48.1 के उच्चारण में "अभ्र" का अन्तिम अच् को सानुनासिक तथा 'आँ' को निरनुनासिक उच्चारण करना।

– सन्दष्टता विषमरागता च। ऋ.प्रा. 15.4

विष्टार पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद। इस छन्द के प्रथम एवं चतुर्थ में आठ-आठ अक्षर तथा द्वितीय एवं तृतीय में बारह-बारह अक्षर होते हैं।

यथा : अग्ने तव श्रवो वयः। ऋ.सं.10.140.1

विष्टारपङ्क्तिर्बाह्यतः। ऋ.प्रा.16.62

विष्टार बृहती बृहती का एक भेद। इस छन्द में आदि और अन्तिम पाद आठ-आठ एवं मध्य (द्वितीय-तृतीय) पाद दश-दश अक्षरों के होते हैं।

यथा : *युवं ह्यास्तं महो रन्।* ऋ.सं. 1.120.7

अष्टिनोर्दशकौ मध्ये विष्टार बृहती युवम्।

ऋ.प्रा.16.49

विसर्जनीय विसर्जनीय पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।

यथा : *नॄः पात्रम्।* ऋ.सं. 1.121.1

- पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ। ऋ.प्रा. 1.24
- विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.34

विसर्जनीय विसर्ग। अव्यवहित पूर्व स्वर पर आश्रित पदान्त रेफ के स्थान में उत्पन्न वर्ण, जिसे कुछ आचार्य कण्ठस्थानी, कुछ उरस्थानी और कुछ अव्यवहित पूर्व स्वर के अन्तिम भाग के स्थान तथा करण वाला मानते हैं

यथा: *अः। अः इति विसर्जनीयः।* वा.प्रा. 8.22 तथा ऋ.तं.प्र.प्र. 2

- विसर्जनीयोऽभिनिष्ठानः। च.अ. 1.42
- केचिदेता उरस्यौ। ऋ.प्रा.1.40
- उरसि विसर्जनीयो वा। ऋ.तं. 3
- पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः। तै.प्रा. 2.48
- वायोः विसर्जने अः इति विसर्जनीयः।
- वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वात्। तै.प्रा. 1.18 पर वै.भा.

विशेष [1] विसर्जनीय शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'सृज्' धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है विशेष रूप में त्यागने योग्य। क्योंकि विसर्ग के उच्चारण में उरस्-स्थान अथवा कण्ठस्थान से वायु पूर्णतया मुख से बाहर फेंक दी जाती है।

अः इति विसर्जनीयः, वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वात्।

तै.प्रा. 1.18 पर वै.भा.

विशेष [2] यह विसर्जनीय पर-वर्ण के योग में बहुधा परिवर्तनीय होता है।

यथा : विसर्ग का सत्त्व, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, रेफ, यकार तथा य-लोप-रूप में परिवर्तन। इसलिए इसको च.अ. में अभिनिष्ठान (अभि+निस्+स्तन्+घञ्) शब्द से अभिहित किया गया है।

वीप्सा, गुण व क्रिया के द्वारा अनेक समान अर्थ (आश्रय, अधिकरण)

के बोधक शब्दों के युगपद् प्रयोग की इच्छा।
शसि वीप्सायाम्। च.अ. 4.19

तुल. व्याप्तिविशेषविषया प्रयोक्तुरिच्छा वीप्सा। नानावाचिनामधिकरणानां क्रियागुणाभ्यां युगपत् ..प्रयोक्तुर्व्याप्तुर्व्याप्तुमिच्छा नानाभूतार्थवाचिनां शब्दानां यान्यधिकरणानि वाच्यानि तेषां क्रियागुणाभ्यां युग्पत्प्रयोक्तुमिच्छा वीप्सा। पा.सू. 8.1.4 पर काशिका।

वृत्त छन्दों के अक्षरों का भाव लघु-गुरु भाव या विधान।

- वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्।

गुर्ववेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः।। ऋ.प्रा.17.39

वृत्ति उच्चारण-गति (काल)। उदात्तादि स्वरों के आधार पर मुहूर्त-काल (सूक्ष्मतम) के भेद से वाणी की गतिपरक उच्चारण-प्रक्रिया। यह तीन प्रकार की होती है- विलम्बित, मध्यम, द्रुत।

- तिस्रो वृत्तिरुपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च। ऋ.प्रा. 13.46

- क्रम-विक्रम-सम्पन्नामद्रुत-विलम्बिताम्।
- नीचोच्च-स्वारसम्पन्नां वदेद्द्रुतवतीं समाम्। तै.प्रा. 23.20
- द्रुतायां मात्रा। चतुष्कला-मध्यमायां। पञ्चकला-विलम्वितायाम्। ऋ.तं. 31-33

विशेष उब्बट और कैयट के अनुसार जिन मन्त्रों का उच्चारण-काल द्रुता वृत्ति में नौ मुहूर्त का होता है, उसी का मध्यमा वृत्ति में बारह मुहूर्त का और विलम्बिता वृत्ति में सोलह मुहूर्त का होता है। अन्य आचार्यों के मत में इसका अनुपात यथा-क्रम सोलह, बीस और पच्चीस है।

विशेष[1] महाभाष्यकार ने स्वरप्रक्रिया में द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता को क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म कहा है।

विशेष[2] ऋक्तन्त्र के अनुसार यह अनुपात 3, 4 व 5 काल का है। अभ्यास-काल में द्रुता, प्रयोगकाल में मध्यमा और उपदेश (अध्यापन) काल में विलम्बिता वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। ऋ.प्रा. 13.49

– अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।

शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्।

ऋ.प्रा. 13.49

तुल. ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णाः विभागाधिकास्ते मध्यमायां, ये मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिका ते विलम्बितायाम्।

पा.सू. 1.1.70, वा. 4 पर म.भा.

विशेष[3] भिन्न-भिन्न कर्मों में भिन्न-भिन्न वृत्तियों का विधान किया गया है।

यथा : प्रातःसवन में विलम्वित, मध्याह्न-सवन में मध्यम तथा सायंकालीन सवन में द्रुता वृत्ति होती है। द्र. ऋ.प्रा. 13.47

वृद्धम् द्र. प्लुत ।

वृषा विराट् अतिशक्वरी। द्र. ताराङ्।

वृषाकपि वृष-कपि।

– प्रकृतिदर्शनं समापत्तिः। च.अ. 4.73

– षत्वणत्वोपाचारदीर्घटुत्वलोपान्पदानां चर्चापरिहारयोः समापत्तिः।

च.अ. 4.74

यथा : *वृष-कपि=वृषाकपि।* ऋ.सं. 10.86.1

– वृषस्य कपिमोदनीदर्भरवेषु। ऋ.तं. 216

बृहती चार चरणों वाली छत्तीस वर्णों से युक्त छन्द

यथा : *या चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।*

ऋ.सं.8.1.1

– चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट्त्रिंशदक्षरा।

ऋ.प्रा. 16.45

वेष्टक द्र. परिग्रह।

वैभाषिक वा, अथवा। विकल्प वाचक शब्द

यथा : *मुखनासिकया वा।* तै.सं. 2.50

– वेति वैभाषिकः। तै.प्रा. 22.7

वैराज छन्दोविशेष। दश अक्षरों वाले चरण की वैराज संज्ञा होती है।

पादौ गायत्र–वैराजावष्टाक्षर–दशाक्षरौ। ऋ.प्रा.17.37

व्यञ्जन[1] अङ्ग–निरूपण–क्रम में व्यञ्जन स्वर के अङ्ग होते हैं।

यथा : *वर्क।* ऋ.सं. 1.63.7

उर्क। वा.सं. 5.33

– अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्। ऋ.प्रा. 1.22

– व्यञ्जनम् स्वराङ्गम्। तै.प्रा. 21.1

– वर्ति। ऋ.तं. 47

(क) आद्य तथा स्वरान्तवर्ती व्यञ्जन परवर्ती स्वर के अंग होते हैं।

यथा : *इमानेव लोकानुपधाय।* तै.सं. 5.5.5

– स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य। ऋ.प्रा.1.23

– तत्परस्वम्। तै.प्रा. 21.2

- सहाद्यैः व्यञ्जनैः। वा.प्रा. 1.100
- परस्य स्वरस्य व्यञ्जनानि। च.अ. 1.55

(ख) पदान्तीय व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होते हैं।

यथा : *वषट्।* तै.सं. 2.2.12

- अवसितं पूर्वस्य। तै.प्रा. 21.3
- व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्थान्त्यं तु पूर्वभाक्।

ऋ.प्रा.18.33

- अवसितञ्च। वा.प्रा. 1.106
- पद्यं च। च.अ. 1.57

व्यञ्जन[2] स्वरातिरिक्त कादिवर्ण, परवर्ती स्वर से अभिव्यक्त तथा अर्थों का प्रकाशक। ये अर्धमात्राकालिक होते हैं।

यथा : स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्मसंज्ञक वर्ण एवं अयोगवाह।

- व्यञ्जयति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थान् इति व्यञ्जनानि।

ऋ.प्रा. 1.6 पर उ.भा.

- परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्।

तै.प्रा.1.6 पर वै.भा.

- स्वरसापेक्षं व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 21.1 पर त्रिभा.र.
- सर्वःशेषो व्यञ्जनान्येव। ऋ.प्रा. 1.6
- शेषो व्यञ्जनानि। तै.प्रा. 1.6
- अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम्। तै.प्रा. 1.17
- ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 1.37
- व्यञ्जनम् कादि। वा.प्रा. 1.47
- व्यञ्जनमर्धमात्रा। वा.प्रा. 1.59
- परस्य स्वरस्य व्यञ्जनानि। च.अ. 1.55

विशेष व्यञ्जन-शब्द वि उपसर्गपूर्वक-'अञ्जु'-धातु से ल्युट् करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ स्वर के सहयोग से व्यक्त होने वाला, प्रकाशित होने वाला और गत्यर्थ विविध अर्थों को प्राप्त होने वाला है।

– परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्।

तै.प्रा. 1.6 पर वै.भा.

– व्यञ्जयति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थान् इति व्यञ्जनानि।

ऋ.प्रा. 1.6 पर उ.भा.

अथवा गतिरपि व्यञ्जेरर्थः। विविधं गच्छत्यजुपरागवशादिति व्यञ्जनम्। उपरागश्च पूर्वपरा च संनिधानेऽपि परेणाचा भवति न पूर्वेण। पा.सू. 1.2.30 पर कैयट

– स्वरसापेक्षं व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 21.1 पर त्रिभा.र.

– अन्वग् भवति व्यञ्जनम्। पा.सू. 1.2.29 पर म.भा.

विशेष[1] परवर्ती व्याकरण एवं शिक्षाग्रन्थों में स्वर और व्यञ्जन की बलाबलता के विश्लेषण-क्रम में उच्चारण की दृष्टि से स्वर को बलवान् (प्रधान) और व्यञ्जन को दुर्बल (अप्रधान) बतलाया गया है।

व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्य च कार्य-मुच्यते तं तं भजन्ते। पा.सू. 6.1.2 पर म.भा.

– दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद् हरते बलवान् स्वरः।। पा.शि.2

– मणिवद्व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वर इष्यते।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः।। पा.शि. 3

विशेष[2] किन्तु अर्थ-बोधन की दृष्टि से व्यञ्जन को प्रधान बतलाया गया है।

यथा : 'यूप, कूप सूप'। इनमें स्वरों के अपरिवर्तित होने पर भी व्यञ्जन के परिवर्तन से ही अर्थ भिन्न हो गये हैं।

व्यथन (वर्णगत उच्चारण-दोष) विकार। विद्यमान वर्ण का अन्य प्रकार से उच्चारण-काल में सुनाई पड़ना।

यथा : *'रथ्यः'* के थकार का उच्चारण सकार के समान सुनाई पड़ना।

– व्यथनं नाम सतोऽन्यथाश्रवणम्।

ऋ.प्रा. 14.1 पर उ.भा.

व्यवधान द्र. आगम।

व्यवाय पृथक्करण। संयुक्त वर्णों (संयोग) का स्वरभक्ति के द्वारा व्यवधान। अर्थात् स्वरभक्ति-सहित उच्चारण।

यथा : *अज्मन्।* ऋ.सं. 1.166.5

तिल्विले। ऋ.सं. 5.62.7

यहाँ ऋ.प्रा. 6.1 से प्राप्त 'जकार' और 'लकार' का द्वित्व उच्चारण न करके 'जकार' और 'लकार' के बाद 'अ' स्वरभक्ति द्वारा उच्चारण किया जाता है।

– संयोगानां स्वरभक्त्या व्यवायः। ऋ.प्रा. 14.58
परा. च.अ. 2.92, ऋ.तं. 190

व्यापन्न सन्धि अघोष स्पर्श-ऊष्म। पदादि होने पर पदान्त रिफित और अरिफित विसर्जनीय का ऊष्म परसवर्ण में परिवर्तित होना।

यथा : *अग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्।* ऋ.सं. 1.93.5

देवास्तं सर्वे। ऋ.सं. 6.75.19

योवश्शिवतमो रसः। ऋ.सं. 10.9.2

देवीष्षलुवीः। ऋ.सं. 10.128.5

ये नस्सपत्ना अप। ऋ.सं. 10.128.9

- अघोषे रेफरेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे।
  तत्सस्थानमनूष्मपरे। ऋ.प्रा. 4.31
- तथयोः समम्। वा.प्रा. 3.8
- प्रत्ययसवर्णं मुदि शाकटायनः। वा.प्रा. 3.9
- जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः। वा.प्रा. 3.12
- अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्। तै.प्रा. 9.2
- विसर्जनीयश्च परसस्थानोऽघोषे। च.अ. 2.40

विशेष [1] वा.प्रा. तथा तै.प्रा. में व्यापन्न संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु इस सन्धि का विधान हुआ है।

विशेष [2] शाकल्य के मतानुसार पदादि श, ष, स, क, ख, प, फ रहने पर पदान्त विसर्जनीय अविकृत रहता है।

- अविकारं शाकल्यः शषसेषु। वा.प्रा. 3.10
- प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च। वा.प्रा. 3.11

व्यास (वर्णगत उच्चारण-दोष) विस्तार। किसी वर्ण के उच्चारण-काल में स्थान और करण का (अयुक्त) विस्तार होना। अर्थात् सम्बद्ध वर्ण के उच्चारण-स्थान और करण के साथ समीपवर्ती स्थान और करण का मिश्रण होना।

- "विहारसंहारयोर्व्यासपीडने"। ऋ.प्रा. 14.3
- स्थानकरणयोर्विहारे व्यासो नाम दोषो जायते व्यासोऽविवेकः।
  ऋ.प्रा. 14.3 पर उ.भा.

श

शक्वरी छप्पन अक्षरों वाला छन्द। इस छन्द के प्रत्येक चरण में चौदह अक्षर होते हैं।

यथा : *प्रो ष्वस्यै पुरोरथम् इन्द्राय शूषमर्चत।* ऋ.सं. 8.97.13

– षट्पञ्चाशत्तु शक्वरी। ऋ.प्रा. 16.81

शब्द[1] ध्वनिरूप। अभिघातजन्य वायुस्वरूप ध्वनि।

– शब्दस्तत्। वा.प्रा.1.7

– शब्दस्तदात्मकः वाय्वात्मकः इत्यर्थः। वा.प्रा. 1.7 पर उ.भा.

तुल. शब्दं कुरु। शब्दं मा कार्षीः।

ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। म.भा. पश्पशाह्निक

शब्द[2] सार्थक वर्णरूप। आस्यप्रयत्न-जन्य सार्थक वर्ण या वर्ण-समूह।

– वर्णपृक्तः शब्दो वाच उत्पत्तिः। तै.प्रा. 23.3

तुल. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः।

येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते स शब्दः।

म.भा.आ.-1, शृङ्गारप्रकाश-1

शास्त्रभाग व्यवच्छेदक। काल (शास्त्रभाग) का व्यवच्छेदक। पूर्वकाल सन्धि होने के बाद जो परकाल-सन्धि होती है, उसके पश्चात् पुनः प्राप्तसन्धि नहीं होती है। क्योंकि सूत्रस्थ 'हि'। (वा.प्रा. 4.11) पूर्वकाल परकाल-सन्धि के मध्य में आने के कारण परकाल-सन्धि को असिद्ध कर देता है, जिससे परकाल-सन्धि नहीं होती है, अपि तु पूर्वकाल-सन्धि ही होती है।

यथा : *महान् इन्द्रः।*

यहाँ 'आकारोपधो कारं' (वा.प्रा. 3.142) के अनुसार आकारोपध नकार का यकार हो गया है। 'यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः (वा.प्रा. 4.127) से यकार का लोप हो जाता है। तत्पश्चात् हि (वा.प्रा. 4.11) से पुनः यकार का विधान कर पूर्व-पर के

(आ+3) के स्थान में प्राप्त गुण-सन्धि का निषेध हो गया।

– हि। वा.प्रा. 4.11; वा.प्रा. 4.126

विशेष वा.प्रा. में 'हि' का दो बार उल्लेख हुआ है।

प्रथम (4.11) सूत्र में हि का अर्थ काल-परक किया गया है और काल को स्थानपर्याय माना गया है।

द्वितीय 'हि' (वा.प्र. 4.126) का अर्थ काल-परक ही है किन्तु यहाँ काल अवधि का पर्याय है।

शुक्र विराट् अष्टि। द्र. ताराड्।

शून वर्णगत दोष। अत्यधिक खुले (विलायित) मुख से उच्चारण करना। अति खुले मुख से उच्चारण में मुखगत स्थान और करण (सक्रिय अवयव) में स्पर्शादि प्रयत्नों के नहीं होने पर वर्णों के उच्चारण का अस्पष्ट होना।

– मुखेन सुषिरेण शूनम्। ऋ.प्रा.14.5

शौक्षक्षर सन्धि श्, ष्, स्, या र् का आगम।

यथा : *पुरु। चन्द्रम् = पुरुश्चन्द्रम्।* ऋ.सं. 31.15

परि। कृष्णन्=परिकृष्णन्। ऋ.सं. 9.39.2

अ। कृतोषसम्=अस्कृतोषसम्। ऋ.सं. 10.127.3

वन। षदम्=वनर्षदम्। ऋ.सं. 10.132.7

पुरुपृथ्वधिपूर्वेषु शकार उपजायते। ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते चन्द्रशब्दे परेन्तरा कृपरे षकारः। वनेति रेफः सदशब्द उत्तरे। परिष्कृण्वन्ति वेधसः। अस्कृतोषसम्।

ऋ.प्रा. 4.84-88

श्वसिति श्वासाख्य अनुप्रदान। नाभि-देश से उत्थित मूर्धास्थान से प्रतिनिवृत्त मुखस्थानीय आकाश-विशेष से कण्ठस्थान को प्राप्त वायु।

- स खलु खविशेषं प्रतिपन्नः कण्ठं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति।

ऋ.तं., प्र.प्र.1

द्र. श्वास।

श्वास [1] अधिक श्वास के साथ उच्चारण। आवश्यकता से अधिक श्वास के साथ हकार का उच्चारण।

- श्वासोऽघोषनिभता वा हकारे। ऋ.प्रा. 14.28

श्वास [2] अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न-विशेष); कण्ठस्थानीय स्वर-तन्त्रियों के दूर होने की अवस्था में (कण्ठद्वार के विवृत या विस्तृत होने पर वायु के निर्बाध गति से निकलने के कारण) उत्पन्न ध्वनि-विशेष जो अघोष वर्णों का अनुप्रदान (मूल प्रकृति) है, श्वास है।

- वायुः प्राणः *श्वासोऽघोषाणाम्।* ऋ.प्रा. 13.1.4
- विवृते श्वासः, अघोषेषु श्वासः। तै.प्रा. 2.5, 2.10
- श्वासोऽघोषाणाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3
- श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानम्। च.अ. 1.12

श्वासनाद अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न-विशेष) कण्ठद्वार की साम्यावस्था में (विवृत, संवृत के मध्य में) उत्पन्न उभयात्मक ध्वनि-विशेष, जो सघोष सोष्म (घ, झ, ढ, ध, भ) तथा सघोष ऊष्म (ह) वर्णों का अनुप्रदान (मूल प्रकृति) है, जिसको तै.प्रा. और ऋ.तं. में 'हकार' शब्द से अभिहित किया गया है।

- उभयं वान्तरोभौ, सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ।

ऋ.प्रा.13.2,6

- मध्ये हकारः, हकारो ह चतुर्थेषु। तै.प्रा. 2.6.9

- उभौ ह चतुर्थानां। ऋ.तं.प्र.प्र. 3

- संवृत-विवृतयोर्मध्ये मध्यमप्रकारे यः शब्दः क्रियते स हकार-संज्ञो भवति। तै.प्रा. 2.6 पर त्रिभा.र.

–साम्प्रतिके प्रकृतिस्थे कण्ठे सति हकारो नाम बाह्यप्रयत्नः क्रियते।

तै.प्रा. 2.6 पर वै.भा.

विशेष वरदराजाचार्य प्रभृति वैयाकरणों ने 'हकार' को ईषद् विवृत्त आभ्यन्तर प्रयत्न वाला माना है, तथा भट्टोजिदीक्षित प्रभृति आचार्यों ने 'हकार' को विवृत्त प्रयत्न वाला माना है। के.वी. अभ्यङ्कर ने भी इस मत की पुष्टि की है।

स

संकृति छियानवें अक्षरों वाला छन्द।

यथा : *न वै तत्र=तस्मिन् सुभेषनेऽपि न विद्यते।* तुल.प्रै. पृ.124

कृतिः प्रकृतिः। अशीतिश्चतुरशीति। ऋ.प्रा.16.89,90

संक्रम क्रमपाठ के प्रसंग में पूर्व पद का मध्यवर्ती एक या अधिक पद को छोड़कर परवर्ती पद के साथ संयोजन।

यथा : शूद्रे-अर्ये = शूद्रे अर्ये।

- गलत्पदमतिक्रम्य अगलता सह सन्धानं संक्रमः।

के.वी. अभ्यङ्कर के 'डिक्सनरी ऑफ संस्कृत ग्रामर' पृ.सं. 373

परा. वा.प्रा. 4.168 से 178 तक।

विशेष त्रि-पदादि के आवर्तन (वा.प्रा. 4.168), एक अनुवाक् में दो या एक पद की आवृत्ति (वा.प्रा. 4.169), अव्यवहित पुनरुक्त (वा.प्रा. 4.170), पुनरुक्त पद के अन्य का अंग (वा.प्रा. 4.171), अस्वरविकार (वा.प्रा.

4.172), लिङ्ग के विकार से रहित (वा.प्रा. 4.173), भिन्न पदार्थ से संबद्ध (वा.प्रा. 4.174), तीन बार आवृत्त पद (वा.प्रा. 4.175), गूढ़ अर्थात् प्रच्छन्न, अदृष्ट अव्यक्त किन्तु विवक्षित (वा.प्रा. 4.176), पदसमूह (वा.प्रा. 4.177), तथा संहिता-पाठ (वा.प्रा. 4.178) में सङ्क्रम होता है।

यथा : *वयं स्याम्। पतयः रयीणाम्।* स्वाहा।

रूद्र। यत्। शु.य. 10.20

संख्या स्पर्शवर्णगत संख्या। कवर्गादि स्पर्शवर्णों में ही संख्या-व्यवहार होता है।

यथा : *प्रथम* : क, च, ट, त, प।

द्वितीय : ख, छ, ठ, थ, फ आदि।

– स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्च पञ्च वर्गाः।

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थोत्तमाः। तै.प्रा. 1.10-11

– स्पर्शेष्वेव संख्या। वा.प्रा. 1.49

संदष्ट (वर्णगत उच्चारण दोष) सटे हुए जबड़ों से उच्चारण। सटे हुए जबड़ों की स्थिति में ध्वनि का दोनों दाँतों के नीचे बीच से दबकर निकलना। यह दोष स्वर-वर्णों में होता है।

– संदष्टं तु व्रीडनं आह हन्वोः। ऋ.प्रा.14.6

विशेष ऋ.प्रा. में संदष्ट के लिए 'संदंश' और 'संदष्टता' भी आये हैं। संदष्टं तु ब्रीडनं आह धन्वोः।

संदंश द्र. संदष्ट।

संमा बीस अक्षरों वाला छन्द। द्र. मा।

संयुक्त द्र. संयोग।

संयुक्त व्यञ्जन (क) दो या दो से अधिक व्यञ्जन-संयोग में प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग (ऋ.प्रा. के अनुसार विकल्प से) होता है।

यथा : *आ त्वा रथम्।* ऋ.सं. 8.68.1

- संयोगादिर्वा। ऋ.प्रा. 1.25
- संयोगादिश्च वैवं च। ऋ.प्रा. 18.35
- संयोगादि। तै.प्रा. 21.4
- संयोगादिः पूर्वस्य। वा.प्रा. 1.102
- व्यञ्जने। ऋ.तं. 22
- संयोगादिः पूर्वस्य। च.अ. 1.56

(ख) स्वरभक्ति, यम तथा क्रमजरूप व्यञ्जन, संयोग में प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है।

यथा : *गार्हपत्यः।* तै.सं. 1.6.7

शतवल्शः। ऋ.सं. 3.8.11

यम यथा-रुक्कम्। वा.सं. 15.25

क्रमज अर्कम्। सा.सं.1.158

(1) स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम्। ऋ.प्रा. 1.32

- अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च। तै.प्रा. 21.6
- रलावव्यपरौ। ऋ.तं. 24
- रेफहकारक्रमजं च। च.अ. 1.58

(2) यमश्च। वा.प्रा. 1.103

- च परक्रमे द्वे। ऋ.प्रा. 1.26
- सहक्रम्यः परक्रमे। ऋ.प्रा. 18.36
- क्रमजं च। वा.प्रा. 1.104
- तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे। वा.प्रा. 1.105
- अभिनिधानः। ऋ.तं. 21

– रेफ हकारं क्रमजं च। च.अ. 1.58

अनुस्वार पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है।

यथा : *न व्यांसम्।* सा.सं. 1.28

– पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ। ऋ.प्रा. 1.24

– विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.34

– अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च। तै.प्रा. 21.6

– अनुस्वारौ च। ऋ.तं. 23

संयोग[1] व्यञ्जन-वर्णों का संगम।

यथा : *आ त्वा रथम्।* ऋ.सं. 8.68.1

संयोगं विद्याद् व्यञ्जनसङ्गमम्। ऋ.प्रा. 18.40 **संयोग** [2] स्वर के व्यवधान-रहित व्यञ्जन-वर्णो का योग। दो तथा दो से अधिक व्यञ्जन-वर्णों के मध्य में स्वर का व्यवधान न होने पर उस वर्ण-समूह को संयोग कहते हैं।

यथा : *प्र प्र वस्त्रिष्टुप् मिषम्।* ऋ.सं. 8.69.1

यज्ञान् व्यादिशत्। तै.सं. 6.6.11

– संयोगस्तु व्यञ्जनसंनिपातः। ऋ.प्रा. 1.37

– संयोगं विद्याद् व्यञ्जनसंगमम्। ऋ.प्रा. 18.40

– संयोगादि। तै.प्रा. 21.4

– नानापदसन्धानसंयोगः। तै.प्रा. 24.3

– अनन्तरं संयोगः। वा.प्रा. 1.48

– व्यञ्जनान्यव्यवेतानि स्वरैः संयोगः। च.अ. 1.98

– अतोऽन्यत् संयुक्तम्। च.अ.1.49

– सयुक्सण्। ऋ.तं. 27

– संयुक्तं व्यञ्जनं संयोग-संज्ञं भवति।

ऋ.तं. 27 पर स्वोपज्ञ व्याख्या

तुल. हलोऽनन्तरा संयोगः। पा.सू.1.1.7

विशेष [1] शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य की शाकटायनकृत ज्योत्स्नावृत्ति का प्रथम सूत्र है- स्वर संस्कारयोश्छन्दसि नियमः वा.प्रा. 11.1। यह प्रतिज्ञासूत्र है। तदनुसार स्वर अर्थात् उदात्तादि स्वरों और संस्कारों अर्थात् लोप-आगम-वर्ण विकार (सन्धि) के नियमों का निर्देश माध्यन्दिनशाखा (शु.य. प्रातिशाख्य) का प्रयोजन है। लौकिक संस्कृत के अर्थबोधन के लिए प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना द्वारा शिक्षा-ग्रन्थों के आधार पर संयोग की सात कोटियाँ हैं।

विशेष [2] यथा अग्नि, दघ्ना में **अयः पिण्ड**। अश्वः, सूर्यः आदि में **दारु पिण्ड**। अस्मिन्, अमुष्मिन् आदि में **उर्णापिण्ड**। ब्रह्मन्, बर्हिः इत्यादि में **ज्वालापिण्ड**। संस्थाम्, संस्कृत्य आदि में **मृत्पिण्ड**। देवसवितः, प्रमुख, युञ्जानः, प्रथमम् इत्यादि में **वायुपिण्ड**। दिवः ककुत्, ततः खनेम आदि में **वज्रपिण्ड**।

– यमान्विद्यादयस्पिण्डान् सान्तस्थान् दारुपिण्डवत्।
अन्तस्थायमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत्।
ज्वालापिण्डसनासिक्यः सानुस्वारश्च मृण्मयः।
सोपध्मो वायु-पिण्डश्च जिह्वामूले तु वज्रवत्।
सप्तपिण्डान् विदित्वापि साक्षाद् ब्रह्मणि लीयते।

वा.प्रा. 4.165 पर उ.भा. तथा अ.भा.

संवृत[1] अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न)। कण्ठद्वार की संकोचावस्था में उत्पन्न अनुरणनात्मक ध्वनि। यह नादध्वनि है।

– वायुः प्राणः। ऋ.प्रा. 13.1

– संवृते कण्ठे नादः क्रियते। तै.प्रा. 2.4

– संवृतो घोषवान्। ऋ.तं. प्र.प्र. 3

तुल. तत्रोत्पत्तेः प्राग्यदा जिह्वाग्रोपाग्र–मध्यमूलानि तत्तद्वर्णोत्पत्ति–स्थानानां ताल्वादीनां समीपमेव केवलमवतिष्ठेत्तदा संवृतता। पा.सू. 1.1.9 पर त.बो., श.कौ.

संवृत [2] आभ्यन्तर प्रयत्न। एकमात्रिक आकार (प्रयोगावस्था में)।

– संवृतास्यप्रयत्नः अकारः।

अतोऽकारस्य मात्रिकस्य संवृतास्य–प्रयत्नस्य।

वा.प्रा.1.72 पर उब्बट

– संवृतोऽकारः। च.अ. 1.36

तुल. ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। पा.सू.1.1.9 पर सि.कौ.

संवृतकरणतर सूक्ष्म संवृत आभ्यन्तर–प्रयत्न। कुछ आचार्यों के मत में ऐ और औ का पूर्वस्थानी (अकार) के उच्चारण में आवश्यक सूक्ष्म संवृत आभ्यन्तरप्रयत्न।

– संवृत्तकरणतरमेकेषाम्। तै.प्रा. 2.27

परा. अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। तै.प्रा. 2.26

संस्कारः सन्धि, लोप, आगम वर्ण–विकार और प्रकृतिभाव को संस्कार कहा जाता है। सन्धि–लोप, प्रकृतिभावरूप।

लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः (स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः)

वा.प्रा.1.1 पर उव्वट तथा अनन्त भट्ट

तुल. यद्यत्र स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्।

निरुक्त–1

संस्तार पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद। इस छन्द के मध्य के दोनों चरणों (द्वितीय एवं तृतीय) में आठ–आठ अक्षर तथा शेष प्रथम एवं चतुर्थ चरणों में बारह–बारह अक्षर होते हैं।

यथा: *पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः।* ऋ.सं. 10.172.3

– संस्तारपङ्क्तिर्मध्यतः। ऋ.प्रा. 16.61

संस्वाद द्र.

संहिता / संहित सन्धि-पदों का सन्निकर्ष अर्थात् पदान्त का पदादि से काल-व्यवधानरहित मेल।

– पदान्तान् पदादिभिः संदधेदिति यत्सा कालाव्ययेन।

ऋ.प्रा.2.2

– अथ संहितायामेकप्राणभावे। तै.प्रा. 5.1

– पूर्वेणोत्तरः संहितः। वा.प्रा. 1.155

– सन्निकर्षः संहिता। ऋ.तं. 67

– पदानां संहितां विद्यात्। अ.प्रा. 1-2

तुल. परः सन्निकर्षः संहिताः। पा.सू. 1.4.109

विशेष[1] संहिता शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से 'क्त' तथा 'टाप्'-प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ 'एकत्र रखा हुआ' होता है।

विशेष[2] तै.प्रा. 24.1-2 में संहिता के चार भेद दिखलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं– (1) पदसंहिता, (2) अँक्षरसंहिता, (3) वर्णसंहिता तथा (4) अंगसंहिता।

सङ्घात यत्न। प्रयत्न।

आभ्यन्तर और बाह्य। सङ्घातो नाम प्रयत्नः।

स बाह्याभ्यन्तरत्वेन द्विधा। स सङ्घातादीन् वाक्।

वा.प्रा. 1.9 पर अ.भा.

विशेष उचित कारणों (आत्मा, मन कायाग्नि) से प्रेरित वायु सङ्घातादि (पुरुष-प्रयत्न ताल्वादिस्थान) को प्राप्त करके वर्ण-रूप में अभिव्यक्त होता है।

सण् संयोग, संयुक्त व्यञ्जनों का योग।

यथा : *चित्तम्।* सा.सं. 2.1.29

– सयुक् सण्। ऋ.तं. 27

द्र. संयोग।

सतोबृहती पङ्क्ति पङ्क्ति छन्द का एक भेद, जिसमें द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में आठ-आठ अक्षर तथा प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह-बारह अक्षर होते हैं।

यथा : *मा ते राधांसि मा त ऊतयः वसो।* ऋ.सं. 1.84.20

युग्मावष्टाक्षरौ पादावुभौ द्वादशाक्षरौ सा सतोबृहती नाम। ऋ.प्रा. 16.57

सन्धान द्र. सन्धि।

सन्ध्यक्षर द्विस्थानिक। दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न। भिन्न स्थान वाले दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न एकादेश स्वर। इसको ऋ.तं. में सन्ध्य कहा गया है।

यथा : *ए, ओ, ऐ, औ।* इनमें ए, ओ अपृथक् श्रुति (एकस्वर श्रुति) और ऐ, औ पृथक् श्रुति (द्विस्वर श्रुति) है।

– सन्ध्यानि सन्ध्यक्षराण्याहुरेके।

– द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु। ऋ.प्रा. 13.38

– ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि। ऋ.प्रा. 1.2

– सन्ध्यक्षरं परम्। वा.प्रा. 1.45

– अथ सन्ध्यक्षराणि। वा.प्रा. 8.4

– सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः।
नैकारौकारयोः स्थानविधौ।। च.अ. 1.40,41

– ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि। ऋ.तं.प्र.प्र.2

– अस्थनामिनी सन्ध्यम्। सन्ध्यं द्विवर्णम्। ऋ.तं. 94,95

विशेष [1] ऋ.प्रा. तथा ऋ.तं. में सन्ध्यक्षर को सन्ध्य भी कहा गया है।

– सन्ध्येष्वकारो। ऋ.प्रा. 13.39

– अस्थनामिनी सन्ध्यम्। ऋ.तं. 94

– सन्ध्यम् द्विवर्णम्। ऋ.तं. 95

विशेष [2] तै.प्रा. में ए, ओ, ऐ, औ को सन्ध्यक्षर संज्ञा नहीं की गई है।

विशेष [3] सन्ध्यक्षरों में स्वरों के परस्पर योग पर विचार करते हुए प्रातिशाख्यों में बतलाया गया है कि अकार (आकार भी) इकार (ईकार भी), उकार (ऊकार भी), एकार (ऐकार भी) तथा ओकार (औकार भी) को मिलाने पर क्रमशः ए, ओ, ऐ, औ निष्पन्न होते हैं।

– चत्वारि सन्ध्यक्षराणि भवन्ति। अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते।

यथा : ए, ओ, ऐ, औ। ऋ.प्रा. 1.2 पर उ.भा.।

किन्तु शाकटायन के मत से अ-इ, अ-उ, अ-ई, अ-ऊ से क्रमशः ए, ओ, ऐ, औ निष्पन्न होते हैं।

– सन्ध्येष्वकारोऽधर्मिकार उत्तरं युजोरूकार इति शाकटायनः। ऋ.प्रा. 13.39,

पाणिनीय सम्प्रदाय में इसी को पूर्व-पर के स्थान में गुण और वृद्धि करने पर ए, ओ, ऐ, औ रूप सन्ध्यक्षर वर्ण कहलाते हैं।

विशेष [4] तै.प्रा. में ए और ओ को एक वर्ण मानकर इनके अवयवात्मक रूप पर विचार नहीं किया गया है। तदनुसार ऐकार और औकार में पूर्वस्वर अ अर्धमात्रिक

(यहाँ उच्चारण श्रुत्यनुरोध से अ अर्धमात्रिक) है और परवर्ती स्वर-इकार सार्धमात्रिक है।

- अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। तै.प्रा. 2.26
- इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। तै.प्रा. 2.28
- उकारस्तूत्तरस्य। तै.प्रा. 2.29

विशेष इस प्रसंग में वा.प्रा. परवर्ती स्वर के स्थान पर एकार और ओकार को सार्धमात्रिक मानता है।

सन्धि संहिता, पदान्त और पदादि का अतिशय सन्निकर्ष (सामीप्य)।

यथा : *क्रमशः एषस्य ते, महान्तसमुद्रः, यच्छक्रासि, दोषा आ आगात्। क्रमशः* सा.सं. 1.531, सा.सं. 1.429, सा.सं. 1.264, सा.सं. 1.177

- पदान्तपदाद्योः सन्धिः। वा.प्रा. 3.3
- पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति यत्सा कालाव्यवायेन। ऋ.प्रा. 2.2

विशेष[1] सन्धि के चार भेद होते हैं-लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव।

- संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः।

वा.प्रा.1.1 पर उ.भा.

तुल. (क) सन्धिश्चतुर्विधो भवति लोपागमवर्ण-विकारः प्रकृतिभावश्चेति। पा.शि. 3.21

(ख) दो स्वरों की, दो व्यञ्जनों की, पदान्त स्वर और पदादि व्यञ्जन की तथा पदान्त व्यञ्जन और स्वर की ये चार सन्धियाँ होती हैं।

यथा : *आ इदम् = एदम्, सम् यौमि =सँय्यौमि, इषेत्वा=इषेत्वा, उत एनम्=उदेनम्। क्रमशः* वा.सं. 4.1 , वा.सं. 1.22 , वा.सं.1.1 , वा.सं. 17.50

विशेष [2] तै.प्रा. में सन्धि के लिए 'सन्धान' शब्द का प्रयोग किया गया है।

– नानापदसन्धानसंयोगः पदसंहितेत्यभिधीयते।

तै.प्रा. 24.3

सन्ध्यम् द्र. सन्ध्यक्षर।

समय पदपाठ तथा क्रमपाठ में तीन अथवा तीन से अधिक पदसमूह की पुनरुक्ति समय-संज्ञक है। अर्थात् प्रथमतया उक्त पदसमूह समय-संज्ञक नहीं होता।

यथा : प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्विरायेन्दवे।। सं.पा.

योनिष्ट इन्द्र सदने अकारितमा नृभिः पुरु इत।।

ऋ.सं. 8100

– त्रिपदाद्यावर्तमाने सङ्क्रमः। वा.प्रा. 4.168

विशेष [1] वा.प्रा. को छोड़कर अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में समय की परिभाषा नहीं दी गई है। किन्तु ऋ.प्रा. में पारिभाषिक अर्थ में समय-संज्ञा का प्रयोग किया गया है। (द्र. ऋ.प्रा. 10–19, 11.24)

वा.प्रा. में समय-शब्द के लिए सङ्क्रम शब्द का उल्लेख हुआ है जिसका लक्षण ऊपर दिया गया है।

विशेष [2] क्रमपाठ में प्रश्नों की गणना में समय-संज्ञक मन्त्रांशों को छोड़ दिया जाता है। इसी कारण समय को वा.प्रा. 4.81 पर उ.भा. में गलित (छोड़ दिया) कहा जाता है।

– गलत् पदमतिक्रम्यागलता सह सन्धानं सङ्क्रमः।

वा.प्रा. 4.81 पर उ.भा.

समान द्र. समानाक्षर।

समानपद अखण्डपद।

यथा : *त्रिभिद् ऋणावा जायते। कृ.य. 6.3.10*

'त्वं होतॄणाम्'। कृ.य. 4.3.13

'एष वा ऋचो वर्णः'। कृ.य. 6.1.3

'कृष्णोसि'। कृ.य. 1.1.11

ऋकारर्कारिरषपूर्वो नकारो णकारं समानपदे।

तै.प्रा. 13.6, तै.प्रा. 4.54, 22.13

– समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्।

च.अ.1.99

तुल. रषाभ्यां नोणः समानपदे। पा.सू. 8.4.1

समानपदविवृत्तिविराम द्र. विराम।

समानाक्षर सन्ध्यक्षर से भिन्न समान-स्वर।

यथा : अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ॠ3।

– अष्टौ समानाक्षराण्यादितः। ऋ.प्रा. 1.1

– अथ नवादितः समानाक्षराणि। तै.प्रा. 1.2

– सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम् वा.प्रा. 1.44

– अ इति, आ इति, इ इति, ई इति, उ इति, ऊ इति, ऋ इति, ॠ इति, ऌ इति ॡ इति समानानि।

ऋ.तं., प्र.प्र. 2

– साक्षरः पदान्तोऽवसितः। ऋ.तं. 18

विशेष[1] समानाक्षर को ऋ.तं. में 'समान' तथा 'साक्षर' से और वा.प्रा. में 'सिम' शब्द से कहा गया है।

विशेष[2] तै.प्रा. में समानाक्षरों में 'ऋ' और लृ का ग्रहण नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार के मत में इनमें 'रेफ' का अंश होता है।

- 'रेफोऽस्तृयकारे च परस्य चार्धे।
  पूर्वे हसीर्योस्तु न वेतरस्मात् मध्ये सः। वा.प्रा. 4.148
- संस्पृष्टरेफमृवर्णम्। च.अ. 137

स्वर जो वर्णों के सहयोग के बिना उच्चरित हो। अथवा व्यञ्जन-वर्णों के उच्चारण में सहायक हो।

यथा : *अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ॠ3, लृ, लृ3, ए, ए3, ऐ, ऐ3, ओ, औ3।*

- अष्टौ समानाक्षराण्यादतः। ऋ.प्रा. 1.1-3
- अथ नवादितः समानाक्षराणि, द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्व-दीर्घे। तै.प्रा. 1.2-3
- न प्लुतपूर्व पू षोडषादितः स्वराः। तै.प्रा. 1.2-5
- तत्र स्वराः प्रथमम्। वा.प्रा. 8.2
- अ इति स्वराः। ऋ.तं. प्र.प्र.

तुल. पाणिनि का अच्-प्रत्याहार ।

विशेष[1] 'स्वृ'-धातु से कर्म-करणादि अर्थ में 'अच्'-प्रत्यय करने पर निष्पन्न स्वर-शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ निम्नलिखित हैं।

- स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वराः। ऋ.प्रा.1.3 पर उ.भा.
- स्वयं राजन्ते नान्येन व्यञ्जन्त इति स्वराः। तै.प्रा. 1.5 पर वै.भा.
- स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच्-प्रत्ययः। पा.शि. 4 पर पञ्जिका-भाष्य

– स्वर्यते शब्द्यते व्यञ्जनमेभिः स्वेन राजन्त इति।
वा.या.शि., पृ. 76

– स्वयं राजन्त ते स्वराः अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति।
पा.सू.पर म.भा.1.2.29

विशेष ² प्रातिशाख्यों में स्वरों की संख्या एवं क्रम में परस्पर भिन्नता है। इसके लिए देखें- वर्णसमाम्नाय का विशेष।

समापत्ति मूल रूप का प्रदर्शन। संहिता-पाठ के षत्व, णत्व, मूर्धन्यभाव, लोप, 'न' का विसर्जनीय, स्वर का दीर्घीकरण आदि से युक्त पदों को पदपाठ और क्रमपाठ में मूल रूप में दिखलाया जाना समापत्ति होती है।

समाम्नाय पाठक्रम ।

– समाम्नायः पाठक्रमः। तै.प्रा. 11 पर त्रिभा.र.

तुल. समाम्नायः समाम्नातः। नि. 1.1

समास भिन्नार्थक अनेक पदों का सार्थक एकपदीकरण। समास चार प्रकार के होते हैं- अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व तथा बहुब्रीही। यथाः यथा क्रमः

1. अहरहरप्रत्तयावं रूपम्। 2. प्रजापतिश्चरति गर्भे।

3. इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ। 4. शुद्धबालस्सर्वशु) बालः।

– तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्। वा.प्रा.1.27

– चतुः प्रकार-समासाः। अव्ययीभाव-तत्पुरुष-द्वन्द्व-बहुव्रीहयः। वा.प्रा. 1.87, अनन्तरभट्टभाष्य।

परा. ऋ.तं. 65, च.अ. 2.62

तुल. पृथगर्थानामेकार्थीभावः समासः। पा.सू. 2.1.1 पर वा.

समापाद्य सन्धि षत्व, णत्व, सामवश सन्धि और नियम से सिद्ध

सकारभाव।

यथा : *सुषुमा यातम्।* ऋ.सं. 1.137.1

तदा रभस्व दुर्हणो। ऋ.सं. 10.155.3

मक्षू मक्षू कृणुहि। ऋ.सं. 3.31.20

त्वे हि राधस्पते। ऋ.सं. 8.61.14

- समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं
तथा णत्वं सामवशाँश्च सन्धीन्।
उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्यालि-
शाकल्य-गार्ग्याः।। ऋ.प्रा. 13.31

- समापाद्यानामन्ते संहितावद्वचनम्। च.अ. 4.124

सम्राट् विराट् वृहती। द्र. ताराड्

सर्वनामन् सर्वादिगण में पठित सर्व, विश्व, उभ, उभय आदि शब्द।

परा. *आवः करकश्च वरविभरसर्वनाम्नः।* च.अ. 2.44

तुल. सर्वादीनि सर्वनामानि। पा.सू. 1.1.27

विशेष केवल च.अ. में पारिभाषिक अर्थ में सर्वनाम शब्द का प्रयोग मात्र हुआ है।

सर्वमात्रा विराट् उपमा। द्र. हर्षिका।

सर्वोदात्त पद जिसमें सभी अक्षर उदात्त हों।

यथा : *अग्ना इ इ (वा.सं. 8.10) लाजी इन् (वा.सं. 23.8), शाची इन् (वा.सं. 23.8)। ये सभी पद सर्वोदात्त हैं।*

- सर्वमग्ना 3 इ लात्री इञ्छाची इ निति त्रिमात्राणि च। वा.प्रा. 2.50

प्रणव भी सर्वोदात्त अर्थात् त्रिमात्रिक होता है।

यथा : 'ओ3म् खं ब्रह्म'। वा. 40.17

- प्रणवश्च। वा.प्रा. 2.51

विशेष (1) *वा.प्रा. में इन्द्राबृहस्पतिभ्यां।* शु.य. 7.23
इन्द्रबृहस्पती अरुभ्योम्। शु.य. 25.6
इन दो पदों को तीन उदात्त वाला माना गया है।
– इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि।
वा.प्रा. 2.49

(2) सामान्यतया एक पद में एक अक्षर उदात्त होता है। शेष स्वरित तथा निघात होता है। किन्तु कुछ ही पदों में दो उदात्त होने से द्विरुदात्त, तीन उदात्त होने से त्रि-उदात्त और सभी उदात्त होने से सर्वोदात्त होता है।

सर्षिका विराट् प्रमा। द्र. हर्षिका।

सवर्ण समान स्थान, करण (सक्रिय अवयव), आभ्यन्तर प्रयत्न वाला वर्ण।

यथा : *तव अयं=तवायं सोमः, स्रुचि इव=स्रुचीव घृतम्।*
शु.य. 26.23, 20.79

– समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः। वा.प्रा. 1.43

– इयमन्वर्थसंज्ञा। सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते।

तस्मादकारादीनामिकारादिभिर्न सवर्णशङ्का, भिन्नस्थान-प्रयत्नत्वात् अनयोः। तै.प्रा. 1.3 पर त्रिभा.र.

परा. द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे। तै.प्रा. 1.3

– समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः। च.अ. 3.42

तुल. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। पा.सू. 1.1.9

– अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। पा.सू. 1.1.69

विशेष[1] सवर्ण का अर्थ सारूप्य भी होने से स्वर के प्रसङ्ग में स्वर-विशेष के उच्चारण से उसके समस्त भेद

गृहीत होते हैं किन्तु व्यञ्जन के प्रसङ्ग में एक वर्ग के समस्त वर्ण परस्पर सवर्ण होते हुए भी सारूप्य के अभाव में किसी एक के उच्चारण से दूसरा गृहीत नहीं होता।

– सवर्णत्वं नाम सारूप्यमुच्यते। तै.प्रा. 14.23

क, ख, ग, घ, ङ, परस्पर सवर्ण तो हैं, पर इनमें सारूप्यता नहीं है। 'क' का सारूप्य 'क्' में तथा 'ख' का सारूप्य 'ख्' में है।

यथा : *अत्वक्काय:।* कृ.य. 7.5.12

विशेष[2] समान स्थान तथा समान सक्रिय अवयव 'ऋ' 'लृ' भी सवर्ण माने गये हैं।

तुल. ऋलृवर्णयोः मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। पा.सू.1.1.9 पर वा.

सस्थान समानस्थान वाला वर्ण।

यथा 'उच्छिष्टे नाम'। अ.सं. 11.7.1 में तवर्ग के बाद शकार का छकार हो गया है।

– सोष्मता च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन।

ऋ.प्रा. 13.16

– पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः। तै.प्रा. 2.48

– सस्थानः। ऋ.तं. 92

– तकारस्य शकारलकारयोः परसस्थानः। च.अ. 2.13;

परा. तै.प्रा. 2.48, 14.9, 5.27, 5.38, 9.2; च.अ. 2.13, 2.15, 2.31, 2.40, 3.30

विशेष तै.प्रा. के अनुसार कुछ आचार्य सस्थान में उच्चारण-स्थान के साथ करण को भी परिगणित करते हैं।

- 'सस्थानः' समानस्थानकरणः भवति।
तै.प्रा. 2.48 पर त्रिभा.र.
- विसर्जनीयः पूर्वस्वरान्तेन समानस्थानो भवतीत्येकेषां मतम्। तै.प्रा. 2.48 पर वै.भा.

साक्षर द्र. समानाक्षर।

सानुनासिक स्वर अवसान में अवस्थित अक्षर (समानाक्षर) अनुनासिक होता है।

यथा : *"इन्दवो वा मुशन्ति हिँ"*। ऋ.सं. 1.2.4

- अष्टावाद्यानवासनेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान्।
ऋ.प्रा. 1.63
- साक्षरः पदान्तोऽवसितः। ऋ.तं. 18
- अनुनासिके अनुनासिकम्। तै.प्रा. 10.11
- येकवचने। ऋ.तं. 19
- हुमित्यनुनासिकः। ऋ.तं., प्र.पा. 2
- हुँ इति नासिक्यः। वा.प्रा. 8.23

उदा. पञ्चमाक्षरों और अनुस्वार के उदाहरण लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं।

- यँ, लँ, वँ- यँत्यत्युजं कृणुते। ऋ.सं. 2.25.1

द्र. ऋ.प्रा. 4.7 पर उ.भा.

सामवश सन्धि पदादि व्यञ्जन होने पर पदान्त ऋकार भिन्न ह्रस्व स्वर का दीर्घ होना।

यथा : *अच्छ वद तवसम्= अच्छा वद तवसम्।* ऋ.सं. 5.83

- दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जनेऽन्यस्त्वृकाराद् यथादिष्टं सामवशः स सन्धिः ऋ.प्रा. 7.1

विशेष ऋ.प्रा. को छोड़कर अन्य प्रातिशाख्यों में सामवश-संज्ञा का प्रयोग नहीं है किन्तु इस सन्धि का विधान है। यह

विधान तत्तत् प्रातिशाख्यों में भिन्न-भिन्न अनुबन्धों के साथ किया गया है जिसे ऋ.प्रा.1.9-52, वा.प्रा.3.97-130, च.अ. 3.1-25, ऋ.तं. 212-255 पर देखा जा सकता है।

साम्य ऐसे दो वर्ण जिनमें स्थान, करण और काल (मात्रा) की समानता हो।

यथा : प्रत्येक वर्ग में क्, ख्, च्, छ्, इत्यादि वर्णों में स्थान, करण तथा काल के आधार पर परस्पर समानता है।

- गुरुत्वं लघुता साम्यम्। ऋ.प्रा., वि.व.वृ.5, तै.प्रा. 24.5
- साम्यं यथा स्थानकरणकालादिभिरनयोरस्ति तौल्यमिति। तै.प्रा. 24.5 पर त्रिभा.र.

सिम द्र. समानाक्षर।

स्कन्धोग्रीवी बृहती छन्द का एक भेद। द्र. न्यङ्कुसारणी ।

स्थान[1] वाणी का स्थान। प्रयोगगत पदवाक्य रूप वाणी के तारतम्य के आधार पर स्थान सात होते हैं- उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम और तार। ऋ.प्रा. के अनुसार वाणीस्थान तीन होते हैं- मन्द्र, मध्यम, उत्तम। इसी प्रकार वा.प्रा. के अनुसार भी तीन स्थान होते हैं।

- त्रीणि मन्द्रं मध्यमुत्तमञ्च स्थानान्याहुः। ऋ.प्रा. 13.42
- सप्त वाचास्थानानि भवन्ति। तै.प्रा. 23.4
- त्रीणि स्थानानि। वा.प्रा. 1.10

स्थान[2] उच्चारण-स्थान। मुखगत ताल्वादि अवयवों पर जिह्वादि करणों का जब उपसंहार (उपश्लेष) हो तो वे स्वरों के स्थान होते हैं और जब स्पर्श हो तब व्यञ्जनों के स्थान होते हैं। स्थान दश होते हैं- उरस्, कण्ठ्य, जिह्वामूल, हनुमूल, तालु, मूर्धा, दन्तमूल, दन्त, ओष्ठ, बर्स्व तथा नासिका।

- स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत् स्थानम्। तै.प्रा. 2.31

- अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत् स्थानम्। तै.प्रा. 2.33

- यद् उपक्रम्यते तत् स्थानम्। च.अ. 1.18 पर

- भाष्य अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते। ऋ.प्रा. 1.49 पर उ.भा.

- कण्ठ्योऽकारः प्रथम-पञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्। केचिदेता उरस्यौ ऋकार लकारावध षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्णः, तालव्या वकार-चकारवर्गविकारैकारौ यकारः शकारः। मूर्धन्यौ षकार-टकारवर्गौ, दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः। सकार-रेफ-लकाराश्च, रेफं वर्स्वमेके। शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यामान् नासिक्यामानुस्वारान्। इति स्थानानि। ऋ.प्रा. 1.38-49

- स्थाने ...... अह विसर्जनीयाः कण्ठे। वा.प्रा. 1.62.71

- तुल. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।

- जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।

पा.शि. 13

सोष्मन् वर्णों के द्वितीय चतुर्थ वर्ण समान स्थान वाले ऊष्म वायु से उत्पन्न वायुप्रधान 'ह' युक्त वर्ण।

यथा : प्रत्येक वर्ग का द्वितीय और चतुर्थ वर्ण।

- युग्मौ सोष्माणौ। ऋ.प्रा. 1.13

- द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः। वा.प्रा. 1.54

- युग्माः सोष्माणः ऋ.तं. 16

- द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः। च.अ. 1.10

- ऊष्माः वायुः, तेन सह वर्तन्त इति सोष्माणः।

ऋ.प्रा. 1.13 पर उ.भा.

- ऊष्मा वायुः, ऊष्मणा सह वर्तन्त इति सोष्माणः अतिशयार्थ वचनम्, महाप्राणा इत्यर्थः।

वा.प्रा. 1.54 पर उ.भा

विशेष द्वितीय वर्णों की सोष्मता, समान स्थान वाले ऊष्माध्वनि क्रमशः जिह्वामूलीय, शकार, षकार, सकार, और उपध्मानीय से उद्भूत हैं, किन्तु चतुर्थ वर्णों की सोष्मता शुद्ध प्राणध्वनि हकार से उत्पन्न है। कतिपय आचार्यों के मत में चतुर्थ वर्णों की सोष्मता महाप्राण-ध्वनि हकार से उद्भूत नहीं है। अर्थात् स्वतन्त्र है।

- सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन। घोषिणां घोषिणैव अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषैः; शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके।

ऋ.प्रा. 13.16-19

स्थित उच्चारणावयवों का स्पर्शाभाव। वर्ण, जिनके उच्चारण में जिह्वा उच्चारण-स्थान को आश्रय बनाकर स्पर्श किये बिना ठहरती है।

यथा : अस्पृष्टवर्ण (स्वर), ऊष्म तथा अनुस्वार। स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्। ऋ.प्रा. 13.11

- यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वाऽवतिष्ठते तत् स्थितम् इत्युच्यते। ऋ.प्रा. 13.11 पर उ.भा.

स्थितोपस्थित स्थित और उपस्थित का मिश्रित रूप। पदपाठ में उपस्थित (इति से युक्त) तथा स्थित (इति से रहित) द्विरुक्त पदों का उच्चारण।

यथा : *द्वे इति द्वे।* वा.सं. 17.91

- तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते।

ऋ.प्रा.10.14

- अथो विपर्ययस्य स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत।

ऋ.प्रा.4.190

स्पर्श क् से म् तक के वर्ण। स्पृष्ट प्रयत्न से उत्पन्न वर्ण।

- स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात् स्पर्शा इत्याख्यायन्ते। तै.प्रा. 1.7 पर वै.भा.

– स्पृष्टकरणाः। स्पर्शाः कादयो मान्ता। ऋ.प्रा. 1.7 पर उ.भा.

– तेषामाद्या स्पर्शाः। ऋ.प्रा. 1.7

– आद्या पञ्चविंशतिः स्पर्शाः। तै.प्रा. 1.7

– किति खिति सिति गिति भिति ङिति कवर्गः।
चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः।
टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः।
तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः।
पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। इति स्पर्शाः।
वा.प्रा. 8. 8–13

– किति खिति गिति घिति ङिति (कवर्गः)
चिति छिति जिति झिति ञिति (चवर्गः)
टिति ठिति डिति ढिति णिति (टवर्गः)
तिति थिति दिति धिति निति (तवर्गः)
पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः (इति स्पर्शाः)
ऋ.तं. प्र.पा. 1.2

तुल. कादयोः मावसानाः स्पर्शाः। पा.सू. 8.2.1 पर सि. कौ.

विशेष स्पृष्ट प्रयत्न होने के कारण इन वर्णों को स्पर्श कहा गया है।

स्पर्शरेफ सन्धि दृतम्, यौनौ, वचोभि, यान्, युवन्यून्, वनिषीष्ट तथा पदादि स्वर बाद में हों तो ईकार-ऊकारोपध पदान्त 'नकार' का रेफ होना।

यथा : उत्। पणीन्। हतम्। ऊर्म्या। महत्ता। =उत्पणीँर्हतमूर्म्यामहत्ता। रश्मीन्। इव। च्छतम=रश्मीँ रिवयच्छतम्। हतं यौनौ वचोभिर्यान्युवन्यूँर्वनिषीष्टेति। ईकारोकारोपहितो रेफमेषु।
ऋ.प्रा. 4.69

- स्वरेषु च। ऋ.प्रा. 4.70
- ते स्पर्शरेफसन्धयः। ऋ.प्रा. 4.72
- अनितिपरो ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेष्वीकारोकार-पूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च यकारम्। तै.प्रा. 9.20
- शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम्। वा.प्रा. 3.141

विशेष ऋकारोपध 'नृन्' तथा 'दस्यून्' में पदान्त नकार को ग्रहण करने के लिए 'दस्युँरेकों' 'नृरभि' का अलग से निर्देश किया गया है।

- दस्युँरेको नृरभिच। ऋ.प्रा. 4.71

स्पर्शोष्म सन्धि दीर्घस्वर के पश्चात् पदान्त 'न' का विसर्जनीय होना।

यथा : *अन्तः। महान्। चरति=अन्तर्महाँश्चरति।* ऋ.सं. 31.5.59

- सर्वान्। तान्। इन्द्र। गच्छसि=सर्वास्ताँ इन्द्र गच्छसि। ऋ.सं. 8.93.6
- चरति चक्रे चमसाँश्च चो चिच। विसर्जनीयवद्दीर्घोपधः। ऋ.प्रा. 4.74
- ताँस्ते सर्वास्तान् देवाँस्त्वं ताँस्त्रायस्वावदँस्त्वं च। ऋ.प्रा. 4.76
- चछयोः शम्। वा.प्रा. 3.134
- तथयोः सम्। वा.प्रा.3.135

स्पृष्ट प्रदान-विशेष (आभ्यन्तर प्रयत्न या करण)। दो उच्चारणावयवों का अल्पकालिक (अवस्थित) पूर्ण स्पर्श। यह स्पर्श स्पर्शवर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न होता है।

- स्पृष्टमस्थितम्। ऋ.प्रा. 13.9
- स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3

– स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। च.अ. 1.29; परा. तै.प्रा. 2.33, 34

तुल. पा.सू. 8.2.1 पर सि. कौ. तथा पा.सू. 1.1.9 पर म.भा.

स्फोटन पिण्डीभूत संयोग का पृथक् उच्चारण। वर्ग-विपर्यय की स्थिति में पदान्त स्पर्श से परे कवर्गीय वर्ण होने पर पिण्डीभूत संयोग का पृथक् (असंयुक्त) उच्चारण।

यथा : *वषट्कृतम्।* वा.सं. 7.26

– यद् गायत्रे। अ.सं. 10.10.1

– स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात्। वा.प्रा. 4.165

– वर्गविपर्यये स्फोटनः पूर्वेण चेद् विरामः। च.अ. 2

– तदेव स्फोटनम्। च.अ. 1.103

– स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्। वा.प्रा. 4.165 पर उ.भा.

विशेष वाजसनेय संप्रदाय में स्फोटन दोष होता है। वा.प्रा. 101 कर्षण-काल-विप्रकर्ष (उच्चारण-काल का लम्बा होना)। किन्तु पदान्तीय 'टवर्ग' के पश्चात् पदादि 'चवर्ग' के संयोग का उच्चारण-काल लम्बा होता है, उसका स्फोटन (पृथग् उच्चारण) नहीं होता।

यथा : *षट् च मे।* अ.सं. 5.15.6

षड् जाता। अ.सं. 8.9.16

– न टवर्गस्य चवर्गे कालविप्रकर्षः,

तत्र भवति तमाहुः कर्षण इति। च.अ. 2.39

तुल. नारदीय-शिक्षा 1.7.19

विशेष यद्यपि सूत्र में चवर्ग एवं टवर्ग का उल्लेख है किन्तु उदाहरणों में पदान्तीय ट, ड तथा पदादि च, ज ही मिलता है।

स्वर सप्त स्वर वैदिक अथवा सांगीतिक। सात स्वर जिन्हें कुछ प्रातिशाख्यों में यम शब्द से भी कहा गया है।

यथा: *अभिनिहित, रौद्र, प्रश्लिष्ट,* तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त और ताथाभाव्य।

द्र. यम

- सप्त स्वरा ये यमास्ते। ऋ.प्रा. 13-44
- यमाः स्वरा उदात्तादयः। तै.प्रा. 23.13 पर त्रिभा.र.
- उदात्तादयः परे सप्त। वा.प्रा. 1.112

विशेष[1] गान्धर्व वेद में षड्ज आदि जो सात स्वर और सामवेद क्रुष्ट आदि जो सात स्वर संगृहीत हैं उन्हें यम जानना चाहिए। ऋ.प्रा. 13.44 पर उ.भा.

विशेष[2] महाभाष्य के अनुसार वैदिक सात स्वर निम्न प्रकार हैं- उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति। परा. पा.सू. 1.2.33

विशेष[3] पा.शि. के अनुसार- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद ये सात संगीत-स्वर हैं जिनकी उत्पत्ति क्रमशः उदात्त से निषाद और गान्धार, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत, स्वरित से षड्ज, मध्यम और पञ्चम कही गयी है। पा.शि. 12

विशेष[4] पाणिनीय शिक्षा और महाभाष्य की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उदात्त से निषाद, उदात्ततर से गान्धार, अनुदात्त से ऋषभ, अनुदात्ततर से धैवत, स्वरित से षड्ज, स्वरितोदात्त से मध्यम और एकश्रुति से पञ्चम स्वरों की उत्पत्ति होती है।

स्वरभक्ति स्वर का भाग या अंश। स्वर के द्वारा विभक्त किया हुआ। यदि र, ल विच्छेदात्मक घोषवर्ण के पूर्व स्वरवर्ण हों और पद में स्पर्श, ऊष्म अथवा कोई भी व्यञ्जन हो तो र/ल अथवा

घोषवर्ण और परवर्ती तत्-तत् वर्णों के मध्य अर्ध, अणुमात्रिक स्वर का उच्चारण किया जाता है, जिसको स्वरभक्ति कहते हैं।

यथा : *र्- ऊष्म के संयोग में, बर्हिः।* तै.सं. 1.1.2

ल् -ऊष्म के संयोग में, मलहाः। तै.सं. 2.1.2

विच्छेदात्मक घोषवर्ण के संयोग में , अर्वाग् देवाः। ऋ.सं. 10.129.6

– रेफात्स्वरोपहिताद्व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा। ऋ.प्रा. 6.46

– विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्च घोषिणः। ऋ.प्रा. 6.47

– रेफोपधामपरे विद्यमानाम्। ऋ.प्रा. 6.51

– रेफोष्मसंयोगे रेफस्स्वरभक्तिः। तै.प्रा. 21.15

– रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। वा.प्रा. 4.17

– रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धं चतुर्थमित्येके अन्यस्मिन् व्यञ्जने चतुर्थमष्टयां वा। च.अ. 1.101,102

विशेष [1] ऋ.प्रा. के अनुसार स्वरभक्ति के कोटिगत दो भेद हैं - दीर्घ (अर्धमात्रिक) और ह्रस्व (अणुमात्रिक)। उष्म वर्ण पर में हो तो दीर्घ तथा अन्य व्यञ्जन वर्णों के संयोग में ह्रस्व स्वरभक्ति होती है।

विशेष [2] च.अ. के अनुसार ऊष्म-पर रेफ अर्धमात्रा अथवा पादमात्रा कालवाली स्वरभक्ति होती है। अन्य व्यञ्जन पर में हो तो स्वरभक्ति पाद-मात्रा अथवा पादार्ध-मात्राकाल-वाली होती है।

स्वराङ्ग द्र. अङ्ग।

स्वराट् दो या दो से अधिक अक्षरों के होने पर स्वराट् संज्ञा होती है। प्रसङ्गानुसार जिस छन्द का अधिकार चलता है, उसी छन्द की स्वराट् संज्ञा होती है।

यथा : योषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवां अर्हति।

पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः।

इस उदाहरण में गायत्री का अधिकार है। गायत्री चौबीस अक्षरों वाली होती है। यहाँ दो अक्षरों की वृद्धि है। अतः यह स्वराट् गायत्री है।

– स्वराज एवं पूर्वस्य याः काश्चैवंगताः ऋचः।

ऋ.प्रा. 17.3

विशेष गायत्री आदि छन्दों में अक्षरों की निर्धारित संख्या से दो या दो से अधिक या न्यून अक्षरों हों तो 'विराट् गायत्री' होती है। यदि दो या दो से अधिक अक्षरों की वृद्धि हो, तो 'स्वराट् गायत्री' होती है।

स्वराट् विराट् अनुष्टुभ्। द्र. ताराड्

स्ववशिनी विराट् पङ्क्ति। द्र. ताराड्।

ह

हकार द्र. श्वासनाद।

हनुमूल जबड़े का मूल (करणविशेष)। हनुमूल से जिह्वामूलीय वर्णों का उच्चारण होता है।

– जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्। च.अ. 1.20

हनुमूल द्र. स्थान।

हर्षिका दो अक्षरों का छन्द विराट् 'मा'

विशेष प्राग्गायत्री के अन्तर्गत पाँच छन्द बताये गए हैं – मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा एवं समा। ये छन्द एक अक्षर से प्रारम्भ होकर पाँच अक्षरों तक के छन्द हैं। मा छन्द के प्रत्येक चरण में एक-एक अक्षर होते हैं। चारों चरण मिलाकर कुल

चार अक्षर होते हैं। इसी प्रकार आगे के छन्दों में चार-चार अक्षरों से बढ़ते हैं। इन छन्दों में दो-दो अक्षरों से न्यून होने पर इनके पृथक्-पृथक् विराट् भी होते हैं।

यथा : *हर्षिका, सर्षिका, मर्षिका सर्वमात्रा, विराट्कामा।*

- द्व्यक्षरादीनि मादीनां वैराजान्यनुचक्षते। ऋ.प्रा. 17.20

ह्रस्व अकार-मात्राकालिक। अकार के उच्चारण में लगे काल के समान काल वाले एकमात्रिक स्वर।

यथा : अ इ उ लृ।

ओजा ह्रस्वाः सप्तमाङ्गाः स्वराणाम्। ऋ.प्रा. 1.17

ऋकारलकारौ ह्रस्वौ- तै.प्रा.1.31

- अकारश्च-1.32
- तेन समानकालस्वरः तै.प्रा. 1.33
- अनुस्वारश्च अमात्रस्वरोह्रस्वः वा.प्रा.1.55

तुल-ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घप्लुतः- पा.सू.1.2.27

परिशिष्ट

परिशिष्ट-1

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. **अर्थववेद-संहिता**-सुबोधभाष्य सहित, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, गुजरात, 1943
2. **ऋक्तन्त्र**, डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित, प्रकाशक-मेहरचन्द एवं लक्ष्मण दास, दरियागंज, दिल्ली, 1970
3. **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य**, सम्पादक डा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र.सं. 1970
4. **ऋग्वेद-संहिता**, सुबोध-भाष्य-सहित, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, पारडी, जिला बलसाड़, गुजरात
5. **काशिका (अष्टाध्यायी-टीका)**, हरिप्रसाद शर्मा, महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल, 2003
6. **चतुरध्यायिका (शौनकीया)**, विलियम डी. ह्विटनी द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संकृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1962
7. **तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य**, त्रिभाष्यरत्न, वैदिकाभरण व्याख्या सहित, आर. शाम शास्त्री तथा के. रंगाचार्य द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण 1985
8. **निरुक्त**, पं. छज्जूराम शास्त्री द्वारा सम्पादित, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1963
9. **पाणिनीय-शिक्षा**, शिक्षा-संग्रह, बनारस-संस्कृत-ग्रन्थमाला, सम्पादक-दामोदर महतो, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1990
10. **पाणिनीयसूत्र (अष्टाध्यायी)**, सम्पा. ईश्वर चन्द, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2004

11. **महाभाष्य**, सम्पादक अमरनाथ, प्रकाशक दीक्षित कृष्ण चन्द्र शर्मा, काशी, 1936

12. **महाभाष्य**, सम्पादक पद्मनाथ शर्मा दीक्षित, काशी, 1937

13. **याज्ञवल्क्य-शिक्षा**, शिक्षासंग्रह, बनारस संस्कृत ग्रन्थमाला, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1990

14. **वाजसनेयि-प्रातिशाख्य**, सम्पादक डा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1975

15. **सिद्धान्तकौमुदी**, तत्त्वबोधिनी-सहित, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रण 1985

16. **प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन**, डा. इन्द्रा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 1991

17. A Dictionary of Sanskrit Grammar, by. K.V. Abhyankar, Oriental Institute, Baroda, First Edn. 1961

18. **ऋग्वेदसंहिता**, सायणभाष्य-सहित, आक्स्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस वारहाउस, आर्यन कार्नर, लंडन, भाग-4, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

-0-

परिशिष्ट : 2

कोशगत आचार्यों की नामानुक्रमणिका

-0-

परिशिष्ट : 3

प्रातिशाख्य-सूत्र-प्रयुक्त आचार्यानुक्रमणिका

v kp k; ा ाम	प्रातिशाख्य-सन्दर्भ
अग्निवेश्य	तै.प्रा. 9.4
अग्निवेश्यायन	तै.प्रा. 15.32
अन्यतरेय	ऋ.प्रा. 3.22
आगस्त्य	ऋ.प्रा. विष्णुवर्गवृत्ति 1.2
आत्रेय	तै.प्रा. 5.31, 17.8
इन्द्र	ऋ. तं. 1.4
उख्य	तै.प्रा. 8.22 ,10.20 ,16.23
उत्तमोत्तरीय	तै.प्रा. 8.20
औदव्रजी	ऋ. तं. 2.6.10
औपशवी	वा.प्रा. 3.131, भाषिकसूत्र 2.20, 2.22
काण्डमायन	तै.प्रा.9.1, 15.7
काण्व	वा.प्रा. 1.123, 1.149
कात्यायन	वा.प्रा. 8.53
काश्यप	वा.प्रा. 4.5, 5.54
कौण्डिन्य	तै.प्रा. 5.38 ,18.3, 19.2, 5.40
कौहलिपुत्र	तै.प्रा. 17.2, 5.40
गार्ग्य	ऋ.प्रा.1-15, 3.36, 11.17, 11.26, 13.31, वा.प्रा.4.157
गौतम	तै.प्रा. 5.38
जातुकर्ण्य	वा.प्रा. 4.12)5, 4.160, 5.22
तैत्तिरीय	तै.प्रा. 23.18
तैत्तरीयक	तै.प्रा. 23.17
नकुलमुख	ऋक्तन्त्र-टीका 3.3.10
वाल्भ्य	वा.प्रा. 4.16
नैगी	ऋक्तन्त्र 2.6.9, 4.3.2

पाञ्चाल	ऋ.प्रा. 2.33
पाणिनि	लघु-ऋक्तन्त्र पृ. 46
पौष्करसादि	तै.प्रा. 5.37, 5.38, 13.16, 14.2, 17.6, 5.40,
प्राच्यपाञ्चाल	ऋ.प्रा. 2.33, 2.81
प्लाक्षायण	तै.प्रा. 9.6, 14.11, 14.17, 14.18.
प्लाक्षि	तै.प्रा. 5.38, 9.6, 14.10, 14.17, 18.5
बाभ्रव्य	ऋ. प्रा. 11.65
बृहस्पति	ऋक्तन्त्र 1.4
ब्रह्मा	ऋक्तन्त्र 1.4
भरद्वाज	ऋक्तन्त्र 1.4, तै.प्रा.17.3, 5.40,भाषिकसूत्र 2.19, 3.9
माक्षव्य	ऋ.प्रा. विष्णुवर्गवृत्ति 1.2
माचाकीय	तै.प्रा. 10.22
माण्डुकेय	ऋ.प्रा. विष्णुवर्गवृत्ति 1.2, 3.14
माध्यन्दिन	ऋ.प्रा. 8.35
माहिषेय	ऋ.प्रा. 8.20
मीमांसक	तै.प्रा. 5.41
यास्क	ऋ.प्रा. 17.4
वाडबी(भी)कर	तै.प्रा. 14.13
वात्सप्र	तै.प्रा. 10.23
वाल्मीकि	तै.प्रा. 5.36, 18.6
वेदमित्र	ऋ.प्रा. 1.51
व्याडि	ऋ.प्रा. 3.23, 3.28, 6.43, 13.31, 13.37
शाकटायन	ऋ.प्रा. 1.16, 13.39, वा.प्रा. 3.9, 3.12, 3.87, 4.5, 4.129, 4.19, च.अ. 2.24, ऋक्तन्त्र 1.1
शाकल अनुयायी	ऋ.प्रा. 1.64, 11.19, 11.61
शाकल्य	ऋ.प्रा.3.13, 3.22, 4.13, 13.31, वा.प्रा 3.10
शाकल्यपिता	ऋ.प्रा. 4.4

शांखमित्री	च.अ. 3.74
शांखायन	तै.प्रा. 15.7
शूरवीर	ऋ.प्रा. विष्णुवर्गवृत्ति 1.3
शूरवीरसुत	ऋ.प्रा. विष्णुवर्गवृत्ति 1.3
कात्यायन	तै.प्रा. 5.40, 17.1, 17.7, 18.2
शैत्यायन	तै.प्रा. 5.40
शौनक	ऋ.प्रा. विष्णुवर्गवृत्ति 1.1, वा.प्रा. 4.1.22, अ.प्रा. 1.2, च.अ. 1.8, 2.24
स्थविर-कौण्डिन्य	तै.प्रा.17.4
स्थविर-शाकल्य	ऋ.प्रा.12.81
सांकृत्य	तै.प्रा.8.21, 10.21, 16.16, तै.प्रा. 8.21, 10.21
हारित	तै.प्रा. 14.18

-0-

परिशिष्ट : 4

पदानुक्रमणिका

पद **पृष्ठ**

परिशिष्ट : 5
सन्दर्भानुक्रमणिका

अः इति विसर्जनीयः, वायोः विसर्जनेन जन्यत्वात्। तै.प्रा. 1.18 पर वै.भा. (153)
अः इति विसर्जनीयः। वा.प्रा. 8.22 (153)
अं इत्यनुस्वारः। वा.प्रा. 8.21 (16)
अं इत्यनुस्वारः अकार इहोच्चारणार्थ इति। बिन्दुमात्रे वर्णोऽनुस्वारसंज्ञो भवति। अनुस्वारः सलीनं शब्द्यते इत्यनुस्वारः। का.व्या. 1.1.17 (2,16)
अःकार आगमविकारिलोपिनाम्। तै.प्रा. 1.23 (66)
अ इति स्वराः। ऋ.तं. प्र.प्र. (176)
अ इति, किति, खिति। निर्देश इतिना। वा.प्रा. 1.36 (31)
अ इति ...... सिति योगवाहाः। ऋ.तं. 1.2 (26, 128)
अ इति3 लृ इति समानानि। ऋ.तं.1.2 (175)
अ विकारस्य। तै.प्रा.1.28, (141)
अकण्ठ्यो भावी। वा.प्रा. 1.46 (119)
अकारव्यपेतो व्यञ्जनानाम्। तै.प्रा. 1.17 (59, 157)
अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। तै.प्रा. 2.26 (169, 173)
अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः। वा.प्रा. 8.18 पर उ.भा. (26)
अकुर्व च प्रत्ययात्परः। तै.प्रा. 5.7 (111)
अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। पा.सू. 1.1.9 (55)
अक्षरं न क्षरं विद्यात्। म.भा.आ.2 (2)
अक्षरं वा। वा.प्रा. 8.51 (2, 91)
अक्षरम्। ऋ.तं. 2.46 (2)
अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः। तै.प्रा. 23.7 (81)
अक्षरसमुदायः पदम्। वा.प्रा. 8.50 (91)

अग्निं वः पूर्व्यमित्येषोऽनुष्टुप्-पङ्क्तिरेव च। ऋ.प्रा. 18.22 (34)
अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्। तै.प्रा. 9.2 (160)
अघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिधानस्पर्शपरात्तस्य सस्थानः। तै.प्रा.14.9 पर त्रिभा.र. (23)
अचोऽस्पृष्टाः। पा. शि. 38, (31)
अञ्चति जरत्पर्वसु। च.अ. 4.53 (96)
अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। पा. सू. 1.1.69 (179)
अणुमात्रा चतुर्थांश मात्रा। च.अ. 1.65 पर निर्मल भाष्य (4)
अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः। पा. सू. 8.4.57, (29)
अतिस्पर्शो बर्बरता च । ऋ.प्रा. 14.26 (118)
अतोऽन्यत् संयुक्तम्। च.अ.1.49 (167)
अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानं तत्समीप-जिह्वामूलस्थानोभयपरम्। ल.शा. पृ.28 (71)
अथ नवादितः समानाक्षराणि। तै.प्रा. 1.2 (175)
अथ मकारलोपः। रेफोष्मपरः। तै.प्रा. 13.1-2 (96)
अथ वर्णसमाम्नायः। तै.प्रा. 1.1 (136)
अथ वर्णाः संज्ञा-प्रत्याहार-समाः। ऋ.तं.प्र.प्र. (1)
अथ संहितायामेकप्राणभावे तै.प्रा. 5.1(6, 52, 170)
अथ सन्ध्यक्षराणि। वा.प्रा. 8.4 (171)
अथवा गतिरपि व्यञ्जेरर्थः। विविधं गच्छत्यजुपरागवशादिति व्यञ्जनम्। उपरागश्च पूर्वपरा च संनिधानेऽपि परेणाचा भवति न पूर्वेण। पा.सू. 1.2.30 पर कैयट (158)
अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः। वा.प्रा. 8.1 (136)
अथानुस्वारौ। अं. आं इत्यनुस्वारौ। ऋ.तं. 1.2, (16)
अथापि वर्णोपजनः आस्यद् द्वारो मरुजेति। नि. 2.11 (33)
अथाभिनिहितः सन्धिरेतैः प्राकृतवैकृतैः एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र सन्धिजाः। ऋ.प्रा. 2.34 (24)

अथायोगवाहा:। अः इति विसर्जनीयः। ᳵ क इति जिह्वामूलीयः। ᳶ प इत्युपध्मानीयः। हुमित्यनुनासिकः। अथ यमाः। कुं इति खुं इति गुं इति घुं इति यमाः। अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ। ऋ. तं. प्र.प्र. 2 (25)

अथायोगवाहा:। अः इति विसर्जनीयः। क् ᳵ इति जिह्वामूलीयः। प ᳶ इत्युपध्मानीयः। कुं इति खुं इति गुं इति घुमिति यमाः। अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ ऋ.तं. प्र. प्र. 2

अथायोगवाहा:। ᳵ क इति जिह्वामूलीयः। ᳶ प इत्युपधमानीयः। अं इत्यनुस्वारः। अः इति विसर्जनीयः। हुँ इति नासिक्यः। कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः। वा.प्रा. 8. 18-24 (87)

अथावर्णपूर्वे। इवर्णपर एकारम्। उवर्ण पर ओकारम्। एकारैकारपर ऐकारम्। ओकारौकारपर औकारम्। अरमृकारपरे। तै.प्रा. 10.3-8 (113)

अथेकारेकारौ। तै.प्रा. 4.8, 4.9-11 (105)

अथो अतिजगत्यन्तः। ऋ.प्रा. 18.12 (118)

अथो विपर्ययस्य स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत। ऋ.प्रा. 4.190 (184)

अथोष्माणो हिति शिति षिति योगवाहाः। ऋ.तं. प्र.प्र. (50)

अदर्शनं लोपः। पा. सू. 1.1.52 (134)

अदर्शनमश्रवणमनुच्चारणमनुपलब्धिरभावो वर्णविनाश इत्यनर्थान्तरम्। एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तस्य लोप इतीयं संज्ञा भवति। पा. सू. 1.1.52 पर काशिका (135)

अदसो मात्। पा.सू. 1.1.12 (103)

अधिकरणं वर्णानां स्थान-शब्देनोच्यते। ऋ.प्रा. 1.49 पर उ.भा. (183)

अर्धोनान्या। ऋ.प्रा. 1.35 (4)

अनतौ विसंभ्यां प्राणाख्या चेत्। च.अ. 4.39 (115)

अनन्तरं संयोगः। वा.प्रा. 1.48 (167)

अनन्यस्तु प्रकृतेः प्रत्ययार्थे। ऋ.प्रा. 6.34 (126)

अनपेक्षितशब्दव्युत्पत्तीनि सत्त्वभूतार्थाभिधायिनी नामानि। शृङ्गारप्रकाश (83)

अनर्थकर्म प्रवचनीयान्ययुक्तैर्विग्रहोऽभिवितन्वादिषु। च.अ. 4.3 (57)

अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते। तै.प्रा. 8.16 (1)
अनिङ्गेन पूर्वेण च.अ. 4.12 (8)
अनितिपरो ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णी-येष्वीकारोकारपूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च यकारम्। तै.प्रा. 9.20, (186)
अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। ऋ.प्रा. 3.5 (108)
अनुनासिकमुपधा प्रागन्तःस्थायाः। वा.प्रा. 3.130 (13)
अनुनासिकवत्यनुनासिकम्। वा.प्रा. 4.53 (11)
अनुनासिकस्य च पूर्वेणैकादेशो। च.अ. 1.69 (53)
अनुनासिकाश्चोत्तमाः। वा.प्रा. 189 (13)
अनुनासिके अनुनासिकम्। तै.प्रा. 10.11 (181)
अनुनासिकोऽन्त्यः। ऋ.प्रा. 1.14 (13)
अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्ययात्। जायते वर्णवैशिष्ट्यं परीमाणाच्च पञ्चमात्।। तै.प्रा. 23.2 (36, 56)
अनुप्रदीयते अनेन वर्ण इति अनुप्रदानं मूलकारणम्। अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थः। तै.प्रा. 2.8 पर त्रिभा.र. (14)
अनुष्टुब्द्वे च, गायत्र्यावेष। आनुष्टुभः स्मृतः .. 18.3 (34)
अनुस्वर्यते पश्चादर्धे स्वरवदुच्चार्यत इत्यनुस्वारः।
तै.प्रा. (वै.भा. 1.18) (16)
अनुस्वारं सोष्मसु मकारः। वा.प्रा. 4.1 (96)
अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च तै.प्रा. 21.6 (166, 167)
अनुस्वारश्च। ऋ.प्रा. 18.39 (132)
अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः। तै.प्रा.17.3 (12)
अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा। वा.प्रा.1.24 पर वै.भा. (16)
अनुस्वारोऽप्युत्तमवद्-व्यञ्जनमेव अस्मच्छाखायाम् अर्ध-गकाररूपत्वात्। तै. प्रा. 2. 30 (वै.भा.) (17)
अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै.प्रा. 2.30 (13, 16)
अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। सानुनासिक अन्तःस्थ यथा-''यँ"यँ"युजं कृणुते'' य ऋ.प्रा. 4.7 (13)

अनुस्वारौ च। ऋ.तं. 23 (167)
अनेकमपि। वा.प्रा. 4.142, (107)
अनेकविधमान्तर्यं स्थानार्थगुणप्रमाणकृतम्। परिभाषेन्दुशेखर पृ.13,
द्र. स्थानेऽन्तरतमः। पा. सू. 1.1.50 पर काशिका (35)
अनेकाक्षरयोस्त्वसंयोगाद्यवौ। कातन्त्र-व्याकरण। 2.2.59 (17)
अन्तः पुनः प्रातः सनुतः 'स्वरव्ययानाम्'। च.अ. 2.48 (30)
अन्तःपदं विवृत्तयः। ऋ. प्रा. 2.13 (17)
अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम्। वा.प्रा. 4.163 (125)
अन्तःस्था परश्च सवर्णमनुनासिकम्। तै.प्रा. 5.28 (13)
अन्तःस्थाम्। ऋ.तं. 109 (62)
अन्तरेण पर्वणि। वा.प्रा. 1.138 (33)
अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्। तै.प्रा. 5.28 (12)
अन्तस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्। वा.प्रा. 4.10 (12)
अन्ताक्षरात्। ऋ.तं. 278 (19)
अन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम्। ऋ.प्रा. 12.24 (19)
अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ।
ऋ.प्रा. 1.11-12 (3)
अन्त्यात् वर्णात् पूर्व उपधा। वा.प्रा. 1.35 (44)
अन्त्यात्प्रथमोऽघोषे। ऋ.तं. 186 (18)
अन्त्योऽनुनासिकः 1 ऋ.तं. 17 (13)
अन्यत्र विद्यमानस्तु यो वर्णश्श्रूयतेऽधिकः। आगम्यमानतुल्यत्वात् स आगम इति स्मृतः।। तै.प्रा. 1.23 पर वै.भा. (33)
अन्ये दीर्घाः। ऋ.प्रा. 1.18 (76)
अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत् स्थानम्। तै.प्रा. 2.33 (183)
अन्वग् भवति व्यञ्जनम्। म.भा. पा.सू. 1.2.29 (158)
अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। पा. सू. 1.2.29, 30 पर म. भा. (124)

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि। आयाममार्दवाभिघाताः। पा.सू.1.2.30 पर म.भा. (124)

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि। तै.प्रा. 22.10 (9)

अन्वादेशश्च। कथितानुकथनमात्रम्। पा.सू. 2.4.32 पर वा. 2 (21)

अपवादाः। अल्पविषया विधयः। ऋ.प्रा. 1.53 पर उ.भा. (21)

अपायो नाम सतोऽपकर्षः। ऋ.प्रा. 14.1 पर उ.भा. (22)

अपृक्त इति व्यञ्जनेनासंयुत इत्यर्थः।। तै.प्रा. 1.54 पर त्रिभा.र (22)

अपृक्त एकाल्-प्रत्ययः। पा.सू. 1.2.41 (22)

अपृक्तसंज्ञक उकारः स्वरपरः प्रकृतिभावः तिष्ठते, अविकृतो भवतीत्यर्थः। तै.प्रा. 9.16 पर वै.भा. (100)

अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम्। सन्धारणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम् ऋ.प्रा. 6.17 (23)

अभिनिधानः। ऋ.तं. 21 (166)

अभिनिधीयत इति अभिनिधानः आरोपणीय इत्यर्थः। तै.प्रा.14.9 पर त्रिभा.र. (23)

अभिनिहितप्राश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानाम् च.अ. 3.65।

अभ्यासः पुनः पुनः करणमावृत्तिः। पा. सू. 1.3.1 पर काशिका (24)

अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्। ऋ.प्रा. 13. 49 (155)

अभ्युत्परा निर्व्युप सं प्रति प्रन्यध्यत्यपा दुःस्वपि पर्यवानु। ऋ.प्रा. 15.17 (37)

अमी चक्षुषी.। तै.प्रा. 4.12-13, 15-20, 22-24 (103)

अमी पदम्। वा.प्रा. 1.98 (103)

अमी बहुवचनम्। च.अ. 1.98, तै.प्रा. 4.12 (103)

अयवाये न्यूने। ऋ.तं. 76 (91, 106, 115)

अरमृवर्णे। च. अ. 2.46, एकारैकारयोरैकारः च.अ.3.50-51 (114)

अर्थः पदम्। वा.प्रा. 3.2 (91)

अथाश्र्यलोपेन यदाह स क्रमः, समानकालं पदसंहितं द्वयोः।
ऋ.प्रा. 11.1 (61)
अर्धं वा। ऋ.तं. 161 (134)
अर्धमणु। ऋ.तं. 41 (3)
अवग्रहः पदान्तवत्। वा.प्रा. 1.153 (27)
अवग्रहशब्देन सावग्रहस्य पदस्य पूर्वपदमभिधीयते।
वा.प्रा. 1.148 पर उ.भा. (28)
अवग्रहो नानाग्रहः। ऋ.प्रा. 1.28 पर उ.भा. (28)
अवर्णव्यवेतोऽपि। तै.प्रा. 7.5 (20, 21)
अवर्णस्येवर्ण एकारः। ऊवर्ण ओकारः। च.अ. 3.44-45 (114)
अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्। तै.प्रा. 2.12 (5)
अवसितं पदान्वर्ति व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 21.3 पर त्रिभा.र. (29)
अवसीयतेऽत्रेत्यवसितं विरामावधिभूतं व्यञ्जनम्।
तै.प्रा. 21.3 पर वै.भा. (29)
अवसितं पूर्वस्य। तै.प्रा. 21.3 (29, 157)
अवसितञ्च। वा.प्रा. 1.106 (157)
अविकारं शाकल्यः शषसेषु। वा.प्रा. 3.10 (143, 160)
अविद्वांस प्रत्यभिवादे नाम्नो येन प्लुतिं विदुः।
म.भा. पस्पशाह्निक-1 (117)
अव्यञ्जनमिश्रशुद्धकेवलस्वरः। 4.113 (8)
अव्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयोगपरं च यत्। अननुस्वारसंयुक्तं यत् तल्लघु
निबोधत। तै.प्रा. 22.15 (132)
अव्ययानां .. च.अ. 4.71 (30)
अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य। वा.प्रा. 1.38 (59)
अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिः द्विर्नवतिः, षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमा तु चतुःशतम्
... ऋ.प्रा. 16.90 (60)
अष्टको दशकः सप्ती विद्वांसाविति सा भुरिक्। ऋ.प्रा. 16.20 (120)

अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकश्च वा। ऋ.प्रा. 16.76 (122)
अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्। ऋ.प्रा. 1.63 (29)
अष्टावाद्यानवासानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान्। ऋ.प्रा. 1.63। साक्षरः पदान्तोऽवसितः। ऋ.त.18 (181)
अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः। ऋ.प्रा.16.19 (50)
अष्टिनोर्दशकौ मध्ये विष्टारबृहती युवम्। ऋ.प्रा.16.49 (152)
अष्टौ समानाक्षराण्यादितः। ऋ.प्रा. 1.1-3 (176)
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठःशिरस्तथा। तालु च। पा.शि. 13 (183)
असावमुमिति तद्भावमुक्तं यथान्तरम्। ऋ.प्रा. 1.56 (35)
अस्थनामिनी सन्ध्यम्। ऋ.तं. 94 (114, 172)
अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः। ऋ.प्रा. 1.73 (105)
अस्मे युष्मे त्वे मे इति चोदात्ताः ... च.अ. 1.77 (106)
अस्मे। त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः। तै.प्रा. 4.9-10 (105)
अस्य शास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते। तै.प्रा. 19.5 पर वै. भा. (99)
अस्वे। शाकाटायन-व्याकरण- 1.2.73; तुल पा. सू. 6.1.73 (32)
अहविसर्जनीयाः कण्ठे। वा.प्रा. 1.71 (55, 183)
अहारहस्सुवरनिङ्ग्यान्तः। तै.प्रा. 8.13 (7)

आ

आ णि। ऋ.तं. 71 (106)
आ रक्तः। ऋ.तं. 114 (129)
आकृतिर्व्यपदेशानां प्राय आदित आदितः। ऋ.प्रा. 18.4 (100)
आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीति अवर्गाः। निरुक्त..1 (47)
आख्यायन्ते स्त्रीपुन्नपुंसकानि वर्तमानेत्याख्यातम्। निरुक्त 1.1 पर दुर्गाचार्य। (32)
आतो अटि नित्यम्। पा.सू. 8.3.3 (35)
आदिश्यते यः स आदेशः। पा.सू. 1.1.56 पर म.भा. (34)

आद्या पञ्चविंशतिः स्पर्शाः। तै.प्रा. 1.7 (185)

इङ्ग्य-शब्देन सावग्रहं पदमुच्यते। ऋ.प्रा. 1.102 (37)

इङ्ग्यमिति विभागवत् पदस्य संज्ञा। इङ्ग्यते विभागेन चाल्यते इति इङ्ग्यम्। तै.प्रा. 1.48 पर वै.भा. (37)

इचशेयास्तालौ। वा.प्रा. 1.66 (67, 73)

इण् कोः। पा.सू. 8.3.57 (19)

इतरे च। ऋ.प्रा. 1.34 (27)

इतरे निपाताः। ऋ.प्रा. 12.21 (86)

इतरेषां तु नादः। ऋ.प्रा. 13.5 (82)

इति नारदौदव्रज्ज्ययोर्मतेन 'यमो वर्णागम' इति विधीयते। अन्ये तु यमं वर्णापत्तिं मन्यन्ते। तथा च शौनकः। ... स्पर्शा यमान् अनुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु इति। पा.शि. 4 पर पञ्जिकाभाष्य। (126)

इति वर्णराशिः क्रमश्च। ऋ.प्रा.वि.वृ. 10 (136)

इदमक्षरम् छन्दोवर्णशः सममनुक्रान्तम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 4 (2)

इन् कारितं धात्वर्थे। का.तं. 3.2.9 (59)

इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीडितः। ऋ.प्रा. 16.17 (64)

इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि। वा.प्रा. 2.49 (179)

इयमन्वर्थसंज्ञा। सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते। तस्मादकारादीनामिकारादिभिर्न सवर्णशङ्का, भिन्नस्थानप्रयत्नत्वात् अनयोः। तै.प्रा. 1.3 पर त्रिभा.र. (179)

इवर्णादेः अस्वे स्वरे यवरलाः। हेम. 1.2.21 (32)

इवर्णोकारौ यवकारौ। तै.प्रा. 10.15 (62)

ई

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। पा.सू. 1.1.19 (102, 104)

ईकारोकारोपहितो रेफमेषु। ऋ.प्रा. 4.69 (185)

ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे। च.अ. 1.74 (104)

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा.सू. 1.1.11 (102)

ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानानाम्। च.अ. 1.30 (38)

उ

उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन। ऋ.प्रा.1.75 (105)
उकारस्तूत्तरस्य। तै.प्रा. 2.29 (173)
उकारोऽपृक्तः। वा.प्रा. 1.94 (104)
उकालोऽज्झ्स्वदीर्घप्लुतः। पा.सू. 1.2.27 (76, 116)
उच्चैरुदात्तः। तै.प्रा. 1.38, पा.सू.1.2.29, वा.प्रा.1.108 (41)
उञः पा.सू. 1.1.17 (105)
उत्तमं शिरसि वर्तते। ऋ.प्रा. 13.42 पर उ.भा. (72)
उत्तमलभावात्पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः। तै.प्रा. 5.31 (13, 39)
अन्तःस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परस्थानाम्। वा.प्रा. 4.10 (13)
उत्तम-व्यतिरिक्तो वर्णः। तै.प्रा. 14.24 पर वै.भा., च.अ. 1.99 पर निर्मल-भाष्य (8)
उत्तमाः अनुनासिकाः। च.अ. 1.11 (13, 39)
उत्तमा घोषाः। ऋ.तं. 14 (39, 67)
उत्तमानुत्तमेषूदयेषु। ऋ.प्रा. 4.3 (39)
उत्तमौ च द्वौ स्वरौ। ऋ.प्रा. 2.25 (43, 93)
उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः। ऋ.प्रा. 1.10 (45, 50)
उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः गायत्री वर्धमानैषा। ऋ.प्रा. 16.24 (138)
उत्पन्नानां वर्णानामुपदेशोद्देशाः। उपदेशे प्रत्याहारः। ऋ.तं. 1.1 (136)
उत्सर्गश्च। वा.प्रा. 4.181 (89)
उदयशब्दः उत्तरपर्यायः। तै.प्रा. 2.47 पर त्रिभा.र. (40)
उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम्। तै.प्रा. 2.47 (41)
उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्। ऋ.प्रा. 3.7 (42)
उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनम्। तै.प्रा. 20.7 (42)
उदात्तमयं प्रचितमेकश्रुतीति पर्यायाः। वा.प्रा. 4.141 पर उ.भा. (108)
उदात्तमुत्। ऋ.तं. 51 (41)

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। ऋ.प्रा. 3.1 (9, 36, 41, 124)

उदात्तश्चानुदात्तश्च। आयामविश्रम्भाक्षेपै.। ऋ.प्रा. 3.1 (22)

उदात्तसमश्शेषः। तै.प्रा. 1.42 (42)

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः। पा.सू.1.2.40 (89)

उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् तस्यानुदात्तस्यानुदात्ततरः स्यात्। पा.सू. 1.2.40 पर सि.कौ. (89)

उदात्तादयः परे सप्त। वा.प्रा. 1.112 (188)

उदेति उपरि आगच्छतीत्युदयः परः। तै.प्रा. 2.47 पर वै.भा. (40)

उद्ग्रहाणां पूर्णरूपाण्यकारे पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति। ऋ.प्रा. 2.33 (91)

उद्ग्रहाणां पूर्वरूपाण्यकारे प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकमाद्यम् प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयस्ताः पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति। ऋ.प्रा. 2.33 (115)

उन्नीचे मे नीचमुच्चात्। ऋ.तं. 54, 55 (89)

उपजन आगमः। शिवसूत्र-5 पर म.भा. (33)

उपदिष्टाः वर्णाः। वा.प्रा. 1.34, (2, 136)

उपदिष्टा इमे वर्णाः। म.भा.आ. 1 (2)

उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात्। तै.प्रा. 1.18, पर वै.भा. (45)

उपपदमतिङ्। पा.सू. 2.2.19 (46)

उपध्मायते शब्दायते इति, उप समीपे ध्मायते शब्द्यते इति वा (कातन्त्र व्याकरण पर टीका) (45)

उपरिष्टाद् बृहत्यन्त्ये। ऋ.प्रा.16.46 (46)

उपलब्धिर्निमदः। तै.प्रा. 23.8 (46, 87)

उपसंहततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसंहरति। तै.प्रा.2.18 (119)

उपसर्गाः क्रियायोगे। पा.सू. 2.2.18 (47)

उपसर्गो विशेषकृत्। ऋ.प्रा.12.25, वा.प्रा. 8.55 (47)

उपस्थितं सेति करणम्। ऋ.प्रा. 10.12 (48)

उपांशु-ध्वान-निमदोपब्दिमन्मन्द्र-मध्यमताराणि। तै.प्रा. 23.5 (140)

उपोच्चारितं पदमुपपदम्। पा.सू. 3.1.92, वा. 2 पर कैयट (46)
उभयं वान्तरोभौ, सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ। ऋ.प्रा. 13.2, 6 (163)
उभये त्वक्षराणि। ऋ.प्रा. 1.19 (2)
उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः। च.अ. 2.35 (13)
उभौ ह चतुर्थानां सँन्निवेशोऽन्यः। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (164)
उरसि मन्द्रम्। तै.प्रा. 23.10 (121)
उरसि विसर्जनीयो वा। ऋ.तं. 3 (49, 153)
उवो ॐ पूपा ओष्ठे। वा. प्रा. 1.70 (45, 54)
उष्णिक्पिपीलिकामध्या हरी यस्येति दृश्यते। ऋ.प्रा.16.34 (98)

ऊ

ऊष्मणां त्वघोषाणां लोमश्यं नामासौकुमार्यम्। ऋ.प्रा. 14.20 पर उ.भा. (135)
ऊष्मणि चानते। ऋ.प्रा. 4.34 (81)
ऊष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वः। ऋ.प्रा. 1.76 (131)
ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्। तै.प्रा. 9.5 (28)
ऊष्मणां विवृतं च स्वराणाञ्च। च.अ. 1.31-32 (149)
ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नतेऽपि। ऋ.प्रा. 4.36 (20)
ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्। तै.प्रा. 9.5 (143)
ऊष्मपरोऽघोषपरे लुप्यते काण्डमायनस्य। तै.प्रा. 9.1 (20)
ऊष्मविसर्जनीयप्रथम-द्वितीया अघोषाः। तै.प्रा. 1.12 (3)
ऊष्माः वायुः, तेन सह वर्तन्त इति सोष्माणः। ऋ.प्रा. 1.13 पर उ.भा. (183)
ऊष्मा वायुः तत्प्रधाना वर्णा ऊष्माणः। ऋ.प्रा. 1.10 पर उ.भा. (51)
ऊष्मा वायुः, ऊष्मणा सह वर्तन्त इति सोष्माणः अतिशयार्थ वचनम्, महाप्राणा इत्यर्थः। वा.प्रा. 1.54 पर उ.भा.। (183)
ऊष्माख्य-वाह्यप्रयत्न-योगादूष्माण इत्याख्या। तै.प्रा. 1.9 पर वै.भा. (51)

ऋ

ऋक्कौ जिह्वामूले। वा.प्रा. 1.65 (70)

ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत्। ऋ.प्रा. 2.32 (44)

ऋकारर्कारारषपूर्वो नकारो णकारं समानपदे। तै.प्रा. 13.6, 4.54, 22.13, (175)

ऋकाराल्लारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः। ऋ.प्रा. 1.41 (70)

ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः। ऋ.प्रा. 1.65 (83)

ऋग्विरामः त्रिमात्रः। तै.प्रा. 22.13 (74)

ऋग्विरामः पदविरामो .... इत्यानुपूर्व्येण तै.प्रा. 22.13 (52)

ऋच इति परिमिताक्षरपादार्धर्च-विहिता मन्त्राः। ऋ.प्रा.वि.वि.। (51)

ऋलृवर्णयोः मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। पा.सू. 1.1.9 पर वा. (180)

लृ

लृ लसिता दन्ते। वा.प्रा. 1.69 (75)

ए

ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि। ऋ.तं., प्र.प्र. 2 (171)

ए-वाँ अग्निमत्रिषु सा प्लुतोपधा। ऋ.प्रा. 2.66 (117)

एकवर्णः पदमपृक्तः। तै.प्रा. 1.54 (22, 52)

एकद्व्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भूरिक्। ऋ.प्रा. 17.2 (86, 120)

एकपदद्विपदत्रिपदचतुष्पदानेक छन्द पदाः पादाः। वा.प्रा. 1.157 (97)

एकपदानि एकैकं पदम्। ऋ.प्रा. 11.35 पर उ.भा. बहुक्रमे क्रमेत तस्यैकपदानि निःसृजन्। ऋ.प्रा. 11.35 (51)

एकमात्रे ह्रस्वः। च.अ. 1.59 (52)

एकवर्णःपदमपृक्तम्। तै.प्रा. 1.14 (22)

एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्वशब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमनन्वादेशः। पा.सू. 2.4.32 पर काशिका (21)

एका च सूक्तम्। ऋ.प्रा. 15.27 (111)

एकाक्षरात्कृतौ जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ। पा.सू. 5.2.115 पर म.भा। (52)

एकादशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चैकः षडक्षरः। उष्णीक् पिपीलिकमध्या हरी यस्येति दृश्यते।। ऋ.प्रा.16.34 (98)

एकादशि-द्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ। ऋ.प्रा.17.38 (68)

एकान्तरस्तु सर्वत्र प्राकृतात्। तै.प्रा. 2.25 (53)

एकारश्च। च.अ. 1.76 (105)

एकारेकारोकारा द्विवचनान्ताः। वा.प्रा. 1.93 (104, 105)

एकारोऽयम्। तै.प्रा. 9.11 (43)

एकारौकारयोर्विवृततमम्। च.अ. 1.34 (150)

एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः। च.अ. 3.55 (24)

एङः पदान्तादति। पा.सू. 6.1.109 (24)

एचोऽयवायावः। पा.सू. 6.1.78, (43, 120)

एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः। वा.प्रा. 8.25 (136)

एदोद्भ्यां पूर्वमकारः। वा.प्रा. 4.62 (24)

एफस्तु रस्य। तै.प्रा. 1.19 (130)

एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्ये। च.अ. 1.2 (145)

एवमुत्पन्नानां वर्णानामुपदेशोद्देशाः। उद्देशे संज्ञाकरणम्। उपदेशे प्रत्याहारः। ऋ.तं. 1.1 (44)

एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदैभ्यः। तेऽन्वक्षर-सन्ध्योऽनुलोमाः। ऋ.प्रा. 2.8 (15)

एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभावः। ऋ.प्रा. 5.61 (81)

ऐ

ऐकार आयम्। तै.प्रा. 9.14, 12, 13, 15; वा.प्रा. 4.47; ऋ.प्रा. 2.25, 28, 31, च.अ. 3.40, ऋ.तं. 111 (43)

ओ

ओ भूतं च। ऋ.तं. 70 (101)

ओकारं ह्रस्वपूर्वः। ऋ.प्रा. 4.25 (112)

ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः। ऋ.प्रा. 1.68 (101)

ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः। वा.प्रा. 1.74 (101)

ओकारान्तश्च। च.अ. 1.80 (101)
ओकारे च। तै.प्रा. 2.13 (5)
ओकारोऽसा ॐ हितोऽकार व्यञ्जनपर:। तै.प्रा. 4.6 (101)
ओकारोऽवम्, औकार आवम्। तै.प्रा. 9.12, 9.15 (120)
ओकारौकारयोरौकार:। च.अ. 3.50-51 (114)
ओजा: ह्रस्वा: सप्तमान्ता: स्वराणाम्। ऋ.प्रा.1.17 (53, 191)
ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्। च.अ. 1.2 (45)
ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे। तै.प्रा. 2.43, (53)
ओष्ठाभ्यां पवर्गे। तै.प्रा. 2.39 (53)
ओष्ठाभ्याममम्बूकृतमाह नद्धं दुष्टम्। ऋ.प्रा. 14.4 (25)
ओष्ठोपसंहार उवर्णे। तै.प्रा. 2.24, (54)
ओष्ठौ तूपहततरौ। तै.प्रा. 2.14, (54)
ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्येवकारोऽत्रान्तरागम:। ऋ.प्रा. 2.3 (120)
ओष्ठ्यस्थाना-ओकार-औकार-उपध्मानीय-पकार-उकार-ऊकारा:। स्वोपज्ञवृत्ति (90)
ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्। च.अ. 1.25 (54)
ओष्ठ्ये वो-पू। ऋ.तं. 9 (54, 90)
औष्णिहस्तूष्णिहापूर्व:। ऋ.प्रा.18.7 (54)

क

क इति जिह्वामूलीय:। ॐ प इत्युपाध्मानीय: अं इत्यनुस्वार: अ: इति विसर्जनीय: हुँ इति नासिक्य: कुं खुं गुं घुं इति यमा:। वा.प्रा. 8.19-24 (25)
ककुप्पूर्वस्तु काकुभ:। ऋ.प्रा. 18.1 (58)
ककुप्पूर्वस्तु को वेद स्मृत: काकुभ बार्हत:। ऋ.प्रा. 18.19 (58)
ककुभ् न्यङ्कुशिरां निचृत् एकादशोऽस्या: प्रथम: उत्तमश्चतुरक्षर:। ऋ.प्रा.16.33 (55)
कण्ठ्योऽकार:। ऋ.प्रा. 1.38 (55)
कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ। तै.प्रा. 2.46 (55)

कण्ठे भवः कण्ठ्यः। ऋ.प्रा. 1.38 (उ.भा.) (55)
कण्ठे मध्यमम्। तै.प्रा. 23.1 (121)
कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः। वा.प्रा. 4.38 (27)
कण्ठ्यादिवर्ण एकारम्। उवर्ण ओकारम्। वा.प्रा. 4.54-55 (114)
कण्ठ्यानामधर कण्ठः। च.अ. 1.19, हाः कण्ठे। ऋ.तं. 2 (55)
कण्ठ्योऽकारः ..... इति स्थानानि। ऋ.प्रा. 1.38-49 (183)
कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः। तै.प्रा. 9.4 (143)
करणं प्रदानम् इत्यर्थान्तरमाहु। ऋ.प्रा. 13.8 पर उ.भा. (55)
करणमध्यं तु विवृतम्। तै.प्रा. 2.45 (56, 94)
करणवदशब्दममनः प्रयोगमुपांशुः। तै.प्रा. 23.6 (48)
कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया इति। पा.सू. 1.4.83 पर म.भा. (58)
काकलकाधस्ताद्गलविवरसंकोचविकासादिकरागलविवरविभासादिकराश्चास्य-
बहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद्बाह्या इति। लघुशब्देन्दुशेखर, पृ. 34 (14)
कादयोः मावसानाः स्पर्शाः। पा.सू. 8.2.1 पर सि. कौ. (185)
कारेण च। वा.प्रा. 1.37 (58)
किति खिति .... इति स्पर्शाः। वा.प्रा. 8.8-13 (185)
किति खिति .... इति स्पर्शाः। ऋ.तं., प्र.प्र. 1.2 (185)
कुं इति खुं इति गुं इति घुं इति यमाः। अनन्त्यात्संयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः।
ऋ.तं. प्र.प्र. 2 (126)
कुं खुं गुं घुं इति यमाः। वा.प्रा. 8.24 (125)
कृचकारस्वयं दृष्टे। ऋ.तं.191, तुल. पा.सू. 3.2.115 (32)
कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संस्कृतिस्तथा
षष्टी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते।। ऋ.प्रा. 16.89 (60)
कृतिर्द्वौ द्वादशाक्षरावेकश्चाष्टाक्षरः परः। ऋ.प्रा. 16.38 (60)
केचित्त्वेकमनेकं वा नियच्छन्त्यन्ततोऽक्षरम् आ वा शेषात्।
ऋ.प्रा. 3.20 (108)
केचिदेता उरस्यौ। ऋ.प्रा. 1.40 (49, 153)

कोष्ठ्यवायुसमुद्भवात्परं ..... इत्यनुप्रदानानि। तै.प्रा. 2.8 पर वै.भा. (14)

कौण्डिन्यस्य मते ओकारस्य धृतापरपर्यायः प्रचयो नाम स्वरो भवति। क्रुष्टादीनां सप्तानां स्वराणां मध्ये तृतीयाख्यो यो मध्यमस्वरस्तस्य धृत इत्यन्वर्थसंज्ञा। तै.प्रा. 18.3 पर वै.भा. (109)

क्रमः। ऋ.प्रा. 10.1 (61)

क्रमः स्मृति-प्रयोजनः। वा.प्रा. 4.182 (61)

क्रम-विक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्। तै.प्रा. 23.24 (61, 142)

क्रमजं च। वा.प्रा. 1.104 (61, 166)

क्रमश्च पूर्वान्तसस्वतरं भवति। ऋ.तं 21 पर टीका (132)

क्रमणं वा यथोक्तम्। ऋ.प्रा. 14.58 (62)

क्रम-विक्रम-सम्पन्नामद्रुत-विलम्बिताम्। नीचोच्चस्वारसम्पन्नां वदेद्धृतवतीं समाम्। तै.प्रा. 23.20 (154)

क्रम-विक्रम-सम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्। तै.प्रा. 23.24 (30)

क्रमशब्दो द्वित्वपर्यायः। तै.प्रा. (त्रिभा.र.) 21.16 (61)

क्रमाज्जातं क्रमजं। यत् संयोगादेः परस्य वर्णस्य द्विरुक्ताज्जायते तत् क्रमजमित्युच्यते। वा.प्रा. 1.104, उ.भा. (61)

क्रमो नाम द्वित्वम्। तै.प्रा. 21.16 (वै.भा.) (61)

क्रियावाचकमाख्यातम्। ऋ.प्रा.12.25, वा.प्रा. 8.55 (32)

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणम्।। वा.प्रा. 8.55 (83)

क्वचित् प्रकृत्या। च.अ. 3.54 (91, 115)

क्ष्वेडनं नामाधिको वर्णस्य सरूपो ध्वनिः। ऋ.प्रा. 14.20 पर उ.भा. (63)

ग

गच्छति, पचति तदाख्यातं येन भावं स धातुः। ऋ.प्रा. 12.1 (32)

गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्। ऋ.प्रा. 18.42 (63, 65)

गलत्पदमतिक्रम्यागलता सह सन्धानं सङ्क्रमः। वा.प्रा. 4.81 पर उ.भा. (174)

गायत्र काकुभो नाम प्रायो भवति काकुभे। ऋ.प्रा.18.6 (63)
गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा। अष्टाक्षरास्त्रयः पादाश्चत्वारो वा षडक्षराः। ऋ.प्रा. 16.16 (64)
गायत्र्यादिस्तु बार्हते प्रायो गायत्र-बार्हतः। ऋ.प्रा. 18.5 (63)
गुणैः प्रापणमुद्देशः। पा.सू.1.3.2 पर म.भा. (44)
गुरु दीर्घम्। ऋ.प्रा. 18.41 (64)
गुरुत्वं लघुता साम्यम्। ऋ.प्रा. वि.वृ. 5, तै.प्रा. 24.5 (182)
गुरु सणि। ऋ.तं. 49 (65)
गुरूणि दीर्घाणि। ऋ.प्रा. 1.20 (65)
गुर्वक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.37 (64)
गुर्वन्यत्। अनुनासिकं च पदान्ते च। च.अ. 1.52-54 (65)
ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितम्। ग्रस्तः जिह्वामूले गृहीतः। अव्यक्त इत्यपरे। म.भा. आह्निक 9 पर प्रदीप (66)
ग्रहणं वा। तै.प्रा. 1.24 (66)
ग्रहणस्य च। तै.प्रा. 1.22 (66)
ग्रह्येते इति ग्रहणम् वेदस्थः शब्दः। तत् त्रिविधम्। कार्यभाक्, निमित्तम्, स्वरूपपूर्वकः अकारः आख्या भवति। तै.प्रा. 1.24 पर वै.भा. (66)
ग्रासः कण्ठ्ययोः। ऋ.प्रा. 14.12 (66)
ग्रासो मुख्ये। ऋ.प्रा. 4.22 (66)

घ

घम्। ऋ.तं. 50 (65)
घि शेषः। वा.प्रा. 1.13 (67)
घोषवतां धारणं वा। ऋ.प्रा. 14.18 (79)
घोषवतामनुनादः पुरस्तादादिस्थानां क्रियते धारणं वा। ऋ.प्रा. 14.18 (10, 79)
घोषवति च। च.अ. 2.54 (113)
घोषवती च। च.अ. 2.43 (131)

घोषवत्परश्च। तै.प्रा. 9.8 (112)

घोषवत्पराः प्रथमास्तृतीयान्स्वान् .... ता वशंगमानि। ऋ.प्रा. 4.2-14 (139)

ङ

ङ्कारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके ककारम्। ऋ.प्रा. 4.16 (18)

ङ्णोः कुक्टुक्शरिः, डः सि धुट्, नश्च, शि तुक्। पा.सू. 8.3.28-31 (18)

च

च पराक्रमे द्वे। ऋ.प्रा. 1.26 (166)

च वाह अह एव एतानि च प्रभृतीनि यान्युपपदानि उक्तानि आख्यातस्य विकाराणि। वा.प्रा. 6.23 पर उ.भा. (46)

चछयोः शम्। वा.प्रा. 3.134 (186)

चतस्रोऽन्तःस्थास्ततः। ऋ.प्रा. 1.9 (18)

चतुष्कला मध्यमायाम्। ऋ.तं. 32 (68)

चतुष्क्रमात्त्वाचरितोऽत्र शाकलैः। ऋ.प्रा. 11.19 (67)

चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट्त्रिंशदक्षरा। ऋ.प्रा. 16.45 (156)

चत्वारो दशका विराट्। ऋ.प्रा. 16.55 (90, 147)

चत्वारोऽष्टाक्षराः पादाः एकश्च द्वादशाक्षरः। सा महाबृहती नाम। ऋ.प्रा.16. 71 (123)

चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सौ। मकारपरे चैके। वा.प्रा. 4.187-188 (67)

चमू अस्मे त्वे। वा.प्रा. 1.96 (104)

चलमोदयमेके। ऋ.तं. 175 (41)

चापीत्यान्वादेशकौ। तै.प्रा. 22.5 (21)

चाषस्तु वदते मात्राम्। ऋ.प्रा. 13.50 (123)

ची यत्प्रपरः। तै.प्रा. 4.33 (103)

चोदकः परिग्रह इत्यनर्थान्तरम्। ऋ.प्रा. 10.15 पर उ.भा. (95)

ज

जागतस्त्वददा अर्भा प्रगाथस्त्रिष्टुबुत्तरः। ऋ.प्रा. 18.28 (74)

जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। तै.प्रा. 2.38 (69, 75, 75)

जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे। तै.प्रा. 2.37 (69, 124)

जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तैर्जन्यत्वाद्यरलवा अन्तःस्था इत्याख्यायन्ते। तै.प्रा. 1.8 पर वै. भा. (19)

जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तमेतत्। ऋ.प्रा. 14.8 (66)

जिह्वामूलीयं जिह्वामूलेन जन्यत्वात्। तै.प्रा. 1.18 पर वै.भा. (70)

जिह्वामूलीयस्था जिह्वामूलस्थानाः ककार-ऋकार ऋकाराः। च.अ.1.20 (54)

जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्। च.अ. 1.20 (70, 190)

जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः। वा.प्रा. 3.12 (160)

जिह्वामूले कृ। ऋ.तं. 4 (54)

जिह्वामूले कृ। ऋ.तं. 85 (70)

जुषाणश्चानध्वनि। वा.प्रा. 4.83 (91)

ञ

ञ्कारे शकारपरे चकारम्। ऋ.प्रा. 4.18 (18)

ट

टकारनकारयोस्तु। आहुः, सकारोदययोस्तकारम्। ऋ.प्रा. 4.17 (18)

टनकारपूर्वश्च तकारः। तै.प्रा. 51.33 (18)

टान्तमेकेत। ऋ.तं. 188 (18)

ण

णकारस्य द्रोणिका। च.अ. 1.23 (77)

त

तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। ऋ.तं.प्र.प्र.4 (136)

तकारस्य शकारलकारयोः परसस्थानः। च.अ. 2.13 (180)

ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि। ऋ.प्रा. 1.2 (171)

ततोऽपरे सन्ध्यमवेक्ष्य कारणं तदर्थजं द्विक्रममत्र कुर्वते। ऋ.प्रा. 11.6 (77)

ततोऽप्याकारस्य। च.अ. 1.35(150)

ततोष्टाषष्टिरत्यष्टिः। ऋ.प्रा. 16.84 (5)

तत् समुदायोऽक्षरम्। वा.प्रा. 8.48 (1)

तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते। ऋ.प्रा. 10.14 (184)
तत्परस्वम्। तै.प्रा. 21.2 (156)
तत्र स्वराः प्रथमम्। वा.प्रा. 8.2 (176)
तत्रोत्पत्तेः प्राक् यदा जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि .... तदा विवृतता। पा.सू. 1.1.9 पर त.बो., श.कौ. (149)
तत्रोत्पत्तेः प्राग्यदा जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि तत्तद्वर्णोत्पत्तिस्थानानां ताल्वादीनां समीपमेव केवलमवतिष्ठेत्तदा संवृतता। पा.सू. 1.1.9 पर त.बो., श.कौ. (169)
तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्। पा.सू. 3.1.92 (46)
तत्सस्थानमनुष्मे परे। ऋ.प्रा. 4.31 (160)
तथयोः समम्। वा.प्रा. 3.8, (160)
तथयोः सम्। वा.प्रा. 3.135 (186)
तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि। ऋ.प्रा. 1.21 (65)
तदर्धमणुः। वा. प्रा. 1.60 (4)
तदेव स्फोटनम्। च.अ. 1.103 (187)
तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। निरुक्त 1.1 (83)
तद्विशेषः करणम्। ऋ.प्रा. 13.8 (55)
तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वम्। ऋ.प्रा. 12.18 (83)
तमिति विकारः। वा.प्रा. 1.133 (141)
तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे। वा.प्रा. 1.105 (166)
तस्मादुच्चश्रुतीनि। ऋ.तं. 61 (107)
तस्य परमाम्रेडितम्। पा.सू. 8.1.2 (36)
तस्य पूर्वपदमवग्रहः। तै.प्रा. 1.49 (27, 37)
तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरःकण्ठशिशरो मुखं नासिके इति। तै.प्रा. 2.3 (116)
तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धम् ह्रस्वस्य। तै.प्रा. 1.41 (42)
तस्यान्तेन परस्य प्रसन्धानम्। च.अ. 4.111 (114)

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव च.। ऋ.प्रा. 3.4 (42)
तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु। ऋ.प्रा. 4.7 (13)
ताः पदवृत्तयः। ऋ.प्रा. 2.26 (93)
ताः वर्णप्रकृतयः। तै.प्रा. 2.7 (138)
ताः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति। ऋ.प्रा. 13.3 (138)
ताँस्ते सर्वास्तान् देवाँस्त्वं ताँस्त्रयस्त्वावदँस्त्वं च। ऋ.प्रा. 4.76 (186)
ता अनानुपूर्व्यसंहिताः। ऋ.प्रा. 2.78 (7)
ताभ्यां परः षडक्षरः प्र या तनुशिरा नाम। ऋ.प्रा.16.35 (72)
तालुनि श्च्ये। ऋ.तं. 5 (73)
तालव्यानां मध्यमजिह्वम्। च.अ. 1.21 (70, 73)
तालव्यावेकार चकार वर्गाविकारेकारौ यकारः शकारः। ऋ.प्रा.1.42 (73)
r ky fu ' P, A ऋ.तं. 85 (67)
तालुस्थानाः शकार-चकार-यकार-इकार-ईकार-एकाराः। ऋ.तं. 5 (67)
तालुस्थानानां मध्येन। वा.प्रा. 1.79 (73)
तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे। तै.प्रा. 2.22 (70)
तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। तै.प्रा. 2.40 (70)
तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। तै.प्रा. 2.40 (73)
तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे। तै.प्रा. 2.36 (70, 73)
तिङ्कृत्तद्धित। वा.प्रा. 1.27। परा. च.अ. 2.83 (72)
तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्। वा.प्रा. 1.27 (60, 73, 177)
तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः। ऋ.प्रा. 1.30 (116)
तिस्रो वृत्तिरुपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च। ऋ.प्रा. 13.46 (154)
तिस्रो वृद्धम्। ऋ.तं. 44 (116)
तीव्रतरमानुनासिक्यमनुस्वारोत्तमेष्विति शैत्यायनः। तै.प्रा. 17.1 (12)
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। पा.सू. 1.1.9 (179)
तृत्तमर्णोऽशोऽम्भोऽम्बु वार्यापश्चोदकमुत्तमम्। ऋ.प्रा. 17.5 (73)

ते चानुदात्तमनुदात्ते। वा.प्रा. 4.84 (115)
ते नस्त्राध्वं बृहत्यादिर्बार्हतानुष्टुभः स्मृतः ऋ.प्रा. 18.21 (118)
ते नानन्तरा षष्ठ्येकपदवत्। वा.प्रा. 2.18 (51)
ते षष्टिरध्याय उपाधिका वा सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ताः ऋ.प्रा. 15.31 (6)
ते स्पर्शरिफसन्धयः। ऋ.प्रा. 4.72 (186)
तेनेत्यागमः। वा.प्रा. 1.137 (33)
तेनैवोपसृष्टेऽपि। च.अ. 4.36 (46)
तेषामाद्या स्पर्शाः। ऋ.प्रा. 1.7 (185)
तेषामेकाधिकावन्त्यौ नष्टरूपा वि पृच्छामि। ऋ.प्रा.16.4 (82)
तेषु मन्दमुरसि वर्तते। ऋ.प्रा. 13.42 पर उ.भा. (121)
त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित्।
एषा ज्योतिष्मती नाम ततो ज्योतिर्यतोऽष्टकः। ऋ.प्रा.16.70 (71)
त्रयश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः परः। विराड्-रूपा ह नामैषा त्रिष्टुभ्नाक्षरसम्पदा।। ऋ.प्रा.16.69 (147)
त्रिःप्लुतः। तै.प्रा. 1.36 (116)
त्रिपदाद्यावर्तमाने सङ्क्रमः। वा.प्रा. 4.168 (174)
त्रिभिः समस्तैरस्वरैः परैर्वा। ऋ.प्रा. 18.48 (29)
त्रिमात्रः प्लुतः। च.अ. 1.62 (116)
त्रिमात्रं सामसु। ऋ.तं. 39 (74)
त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि प्रचयस्वरे मात्रा न्यस्ततरैकेषाम्। ऋ.प्रा. 3.27 (88)
त्रिश्च त्रिकला वा। ऋ.तं. 27 (63)
त्रिस्तावान् ह्रस्वत्रिगुणकालः मयूर-रुततुल्यकालस्वरः प्लुतसंज्ञो भवति। तै.प्रा. 1.36 पर वै.भा. (116)
त्रीणि मन्द्रं भव्यमुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः। ऋ.प्रा. 13.42 (121)
त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः। ऋ.प्रा. 13.42 (39, 121, 140, 72, 182)

त्रीणि स्थानानि। वा.प्रा. 1.10 (182)
त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारका:। तै.प्रा. 1.19 (6)
त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारका:। तै.प्रा. 22.6 (2, 28)
त्वे इत्यनिङ्ग्यान्त:। तै.प्रा. 4.10 (7)
त्वे। ऋ.तं. 82 (106)

थ

थानेकाक्षरेण। च.अ. 4.15 (17)

द

दधन्वान् स्ववान्यकारे लोपम्। वा.प्रा. 3.136 (151)
दन्तमूलीयस्तु तकारवर्ग:। ऋ.प्रा. 1.44 (75)
दन्तमूलेषु च लकारे। तै.प्रा. 2.42 (75)
दन्तस्थानास्तकार-सकार-लकारा:। ऋ.तं. 7 (71)
दन्तस्य मूर्धन्यापत्तिर्नति:। वा.प्रा. 1.42 (81)
दन्ते त्स्ला:। ऋ.तं. 7 (71)
दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्। च.अ. 1.24 (69, 75)
दस्युँरेको नृरभिच। ऋ.प्रा. 4.71 (186)
दीर्घ च पूर्व:। पा.सू.1.4.12 (65)
दीर्घं च पूर्व:। तै.प्रा. 8.17 (87)
दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जनेऽन्यस्त्वृकाराद्। ऋ.प्रा. 7.1 (181)
दीर्घं द्राघते। नि. 2.6 (76)
दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे। तै.प्रा. 10.2 (113)
दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जनेऽन्यस्त्वृकाराद् यथादिष्टं सामवश: स सन्धि:। ऋ.प्रा. 7.1 (181)
दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तय:। ऋ.प्रा. 2.30 (42)
दीर्घप्लुतयो: अवर्णयो: विवृतत्वम्। वा.प्रा. 1.72 (149)
दीर्घादटि समानपादे। पा.सू. 8.3.9 (35)
दु:स्पृष्ट: स रेफ: अतिस्पृश्यते। ऋ.प्रा. 14.26 पर उ.भा. (5)

दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो। पा.शि. 5 (38)

दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद् हरते बलवान् स्वरः। पा.शि. (158)

दुष्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ऋ.तं. प्र.प्र. 3, तुल.पा.सू. 1.1.19 पर सि.कौ. तथा पा. शि. 381 (38)

दुस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्। ऋ.प्रा. 13.10 (38)

देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि। वा.प्रा. 2.48 (78)

दोऽभ्यासे। ऋ.तं. 165 (24)

द्राघितोपधा ह्रस्वस्य। ऋ.प्रा. 4.29 (87)

द्राघीयसी सार्धमात्रा। ऋ.प्रा. 1.33 (27)

द्रुतायां मात्रा। ऋ.तं. 31 (77)

द्रुतायां मात्रा। चतुष्कला मध्यमायां। पञ्चकला विलम्बितायाम्। ऋ.तं. 31-33 (154)

द्रुतायां वृत्तौ मात्रा त्रिकला भवति। ऋ.तं. 31 पर स्वोपज्ञवृत्ति (74)

द्वयर्थे। ऋ.तं. 74 (104, 105)

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते। विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम्।। पा.शि. 94, द्र. शिक्षावल्ली (150)

द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः। ऋ.प्रा.16.37 (15)

द्वाभ्यामवस्येत् त्रिपदासु पूर्वपादेन पश्चात्क्वचिदन्यथैतत्। ऋ.प्रा. 18.46 (29)

द्वावतिछन्दसां वर्गा उत्तरौ चतुरुत्तरौ। ऋ.प्रा. 16.79 (4)

द्वितीय-चतुर्थाः सोष्माणः। वा.प्रा. 1.54 (183)

द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः। च.अ. 1.10 (183)

द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्। ऋ.प्रा. 13.50 (76)

द्विमात्रो दीर्घः। च.अ. 1.61 (76, 77)

द्विरुक्तं आम्रेडितं पदम्। वा.प्रा. 1.146 (36)

द्विरुदात्तानि। वा.प्रा. 2.46 (78)

द्विवचनान्तौ। च.अ. 1.75 (104)
द्विवर्णमेकवत्। वा.प्रा. 4.144 (78)
द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे। वा.प्रा. 4.144 (52, 80)
द्विवर्ति परे। ऋ.तं. 285 (78)
द्विषन्धयस्तूभयतः स्वरस्वराः। ऋ.प्रा. 2.80 (79)
द्विस्तावान् दीर्घः। तै.प्रा. 1.35, वा.प्रा. 1.57 (76)
द्विस्तावान् द्विगुणो ह्रस्वद्विगुणकालः वायसरुत-तुल्यकालस्वरो दीर्घ-संज्ञो भवति। तै.प्रा. 1.35 पर वै.भा. (76)
द्वे करणे। वा.प्रा. 1.11 (94)
द्वे दीर्घः। ऋ.प्रा. 1.29 (76)
द्वे दीर्घम्। ऋ.तं. 43 (76)
द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु। ऋ.प्रा. 15.25 (111)
द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमवसानादपृक्तवर्जम्। वा.प्रा. 4.183 (61)
द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे। तै.प्रा. 1.3 (179)
द्वे पदे क्रमपदम्। च.अ. 4.110 (61)
द्वे. करणे। वा.प्रा. 1.11 (56)
द्वौ चेत्तु द्वादशाक्षरौ, प्रायस्योपजगत्येषा परस्यास्य तु सा त्रिष्टुभ्। ऋ.प्रा. 16.65 (44)
द्वौ प्रथमौ जित्, ऊष्माणश्च हवर्जम्। वा. प्रा. 1.50-51 (69)
द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः। ऋ.प्रा. 16.18 (92)
धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च। अनुबन्ध विकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्।। पा.सू. 5.1.114 पर म.भा. प्रदीप (110)
धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे। वा.प्रा. 5.10 (57)
धृतिः पूर्वा द्विसप्ततिः। ऋ.प्रा. 16.85 (80)

ध्रुवकालनिर्देश्यमल्पत्वात् कवयोर्विदुः।
यदि प्रागणुमात्रायाः कालभेदेऽपि तत्समम्।।
नादोऽभिनिधानेन पीड्यमानो न नश्यति।

तस्मादुच्चार्यते तस्य यावद्वर्णात्मनः परम्।।
एकान्तलोपं कवयो वर्णयन्ति ध्रुवस्य च।
नासिकास्थानं रेफस्य तथा रूपेण निर्दिशेत्।।
सप्तमीकालनिर्दिष्टे पूर्वस्य विधिरिष्यते।
पञ्चम्यास्तूत्तरस्याहुस्तस्मात्कृच्छ्रस्त्वणुर्भवेत्।। ऋ.प्रा. 6.39 पर उ.भा. (80)

न

न आदेशः अनादेशः तस्मिन् उपदेशाभावे इत्यर्थः। तै.प्रा. 2.20 पर त्रिभा.र. (34)

न क्षपरः। तै.प्रा. 9.3 (143)

न क्षरन्तीति अक्षराणि क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्। तै.प्रा. 1.2 पर वै.भा.(2)

न चेत् उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम्। ऋ.प्रा. 3.6 (108)

न टवर्गस्य चवर्गे कालविप्रकर्षः तत्र भवति तमाहुः कर्षण इति। च. अ. .2.39 (187)

न नीर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतकाः भवन्ति, उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमं तं नामाख्यातयोरर्थ-विकरणम्। निरुक्तम् 1.8 (48)

न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः। तै.प्रा. 9.6 (143)

न प्लुतपूर्वम्। तै.प्रा. 1.4 (176)

न वेति विभाषा। पा.सू. 1.1.44 (145)

नकार आकारोपधः पद्यान्तोऽपि स्वरोदयः लुप्यते। ऋ.प्रा. 4.65 (35)

नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः। च.अ. 1.67 (1, 96)

नकारस्थ रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्चोत्तरमुत्तरं तीव्रतरमिति स्थविरः कौण्डिन्यः। तै.प्रा. 17.4 (12)

नकारस्य रेफो लयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः। तै.प्रा. 15.2 (11)

नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः। तै.प्रा. 15.1 (96)

नकारोऽनुनासिकम्। तै. प्रा. 5.26 (13)

नकुलस्त्वर्धमात्रकम्। पा.शि. 47 (1)

नमन्त्याख्यातशब्दे गुणभावेन नमयन्ति वा स्वमर्थम् नामानि। दुर्गाचार्य निरुक्त 1.1 (83)

नमयन्ति दन्त्यं सन्तं मूर्धन्यं कुर्वन्तीति नामिनः। ऋ.प्रा. 1.65 पर उ.भा. (84)

नवकाष्टदशसहैकः परमोष्ट चयादि पादाः। बृहती विषमपदा सा सनितः सुसनितरुग्र।। ऋ.प्रा. 16.53 (152)

नवको दशको वा स्यादेकोनेकोऽपि त्रिष्टुभः, एकादशाक्षरश्चापि विराट्स्थाना ह नाम सा। ऋ.प्रा. 16.67 (146)

नवकौ द्वादशी न्यूना ता विद्वांसेति कविराट्। ऋ.प्रा. 16.40 (59)

नहि ते विपरीतान्तः। ऋ.प्रा. 18.15 (145)

न हकारः। तै.प्रा. 1.13 (3)

नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेव वर्णानुदीरयेत्। तै.प्रा. 17.8 (5, 30)

नात् सि। ऋ.तं. 187 (18)

नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम्। अश्रुति त्वघोषात्।

नासिकास्थानमनुनासिकाच्चेत्। ऋ.प्रा. 6.39-41 (80)

नादो घोषवत् स्वरेषु। च.अ. 1.53 (67, 82)

नानापदसन्धानसंयोगः। तै.प्रा. 24.3 (167)

नानापदसन्धानसंयोगः पदसंहितेत्यभिधीयते। तै.प्रा. 24.3 (93, 174)

नाम च धातुजमाह। पा.सू. 3.3.1 पर महाभाष्य (83)

नामानि आख्यातजानि। निरुक्त 1.1 (83)

नामिकरेफात्प्रत्ययसकारस्य। वा.प्रा. 2.87 (111)

स्पृष्टं स्पर्शानां करणंम्। पा.सू. 1.1.10 पर 3 (56)

नाम्युपधस्य रेफः। च.अ. 2.42 (131)

नासिकयोस्त्वनुषङ्गेऽनुनासिकम्। ऋ.प्रा. 14.9 (10)

नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्। तै.प्रा. 1.52, (1)

नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते। ऋ.प्रा.1.14 पर उ.भा. (10)

नासिकामनुवर्तन्त इत्यनुनासिकाः। तै.प्रा. 2.30 पर त्रिभा.र. (10)

नासिक्यां यमानुस्वार नासिकायाः। ऋ.तं 12 (85)

नासिक्ययमानुस्वारान्। ऋ.प्रा. 1.48 (84, 84)

नासिक्याः नासिकास्थानाः। तै.प्रा. 2.49 (26, 85)

नासिक्यानां नासिका। च.अ. 1.16 (85, 85)

नित्यविरते द्विमात्रम्। ऋ.तं. 37 (77)

निपातः पादपूरणः। ऋ.प्रा. 12.25, वा.प्रा. 8.55 (86)

निपात एकाजनाङ्। पा.सू. 1.1.14 (106)

निपातानामर्थवशान्निपातनादनर्थकानामितरे च सार्थकाः नेयन्त इत्यस्ति सख्येह वाङ्मये मिताक्षर चाप्यमिताक्षरे च ये। च.अ. उच्चावच्चेऽर्थेषु निपतन्ति। निरुक्त 1.2 (87)

निपातोऽपृक्तोऽनाकारः। च.अ. 1.79 (106)

निमित्तस्य निमित्तिनो वा अन्त्यस्यान्वादेशो भवति। तै.प्रा. 1.58 (21)

नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम्। ऋ.प्रा. 3.21 (108)

निरस्तं स्थानकरणापकर्षे। ऋ.प्रा. 14.2 (87)

निर्दिष्टौ भुजसदृशौ पूर्वोत्तरशब्दौ यस्मिन् संहितारूपे तदुच्चारणं निर्भुजम्। ऐ.आ. 3.1.3 पर सा. भा. (88)

निर्भुजं संहिताध्ययनमुच्यते। ऋ.प्रा. व.वि. (क) (88)

निर्भुजशब्दः संहितावाची। ऐ.आ. 3.1.3 पर सा.भा. (88)

नीचैरनुदात्तः। ऋ.प्रा.3.10 वा.प्रा. 1.109 तै.प्रा. 1.39, च.अ.1.15, पा. सू. 1.2.30 (9)

नॄँ पाहि: शृणुधीति च। ऋ.प्रा. 4.79 (144)

नॄन् पकारे विसर्जनीयम्। वा.प्रा. 3.140 (144, 171)

नेति प्रतिषेधकः। तै.प्रा. 22.8 (110)

नेति प्रतिषेधे वेति विकल्पस्तयोः प्रतिषेध-विकल्पयोर्विभाषेति संज्ञा भवति। पा. सू. 1.1.44 पर म.भा. (145)

नैकारौकारयोः स्थानविधौ। च.अ. 1.41 (144, 171)

नोदात्तस्वरितपरः। तै.प्रा. 2.11 (107)

नोदात्तस्वरितोदयं गार्ग्य-काश्यप-गालवानाम्। पा.सू. 8.4.67 (41)

नोदात्तस्वरितोदयम्। पा. सू. 8.4.67। (107)

नोदात्तस्वरितोदयम्। वा.प्रा. 4.143 (41)

नौ क्ताभ्यां सकारे। वा.प्रा. 4.15 (18)

न्यस्ततर अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। तै.प्रा. 1.44 (89)

न्यस्ततरा नीचतरा। ऋ.प्रा. 3.27 पर उ.भा. (89)

न्यायाः =उत्सर्गाः = महाविषया विधयः। ऋ.प्रा. 1.53 पर उ.भा. (89)

न्यायेनौदव्रजिः। ऋ.तं. 7 (89)

न्यायैर्मिश्रानपवादान्प्रतीयात्। ऋ.प्रा. 1.53 (21, 89)

प

प इत्युपध्मानीयः। ऋ.तं.प्र.प्र. 1.2, वा.प्रा. 8.20 (45)

पङ्क्तिरष्टाक्षराः पञ्च। ऋ.प्रा. 16.54 (90)

पङ्क्तिषु तु द्व्यचो वा। ऋ.प्रा. 15.24 (111)

पङ्क्त्यन्तः पाङ्क्तः काकुभः। ऋ.प्रा. 18.8 (96)

पञ्च ते पञ्चवर्गाः। ऋ.प्रा. 1.8 (135)

पञ्चकला विलम्बितायाम्। ऋ.तं. 33 (90, 148)

पञ्चकाः पञ्च षड्वान्त्यः पदपङ्क्तिर्हि सा भूरिक्। ऋ.प्रा. 16.18 (92, 121)

पञ्चाशज्जगती द्यूना चत्वारो द्वादशाक्षराः। तदस्याः बहुलं वृत्तम्। ऋ.प्रा. 16.74 (68)

पटत् पटेति। ऋ.तं. 165 (24)

पदं चान्यः। ऋ.प्रा. 1.69 (101)

पदमर्थे प्रयुज्यते, विभक्त्यन्तं च पदम्। पा.सू. 1.2.64 पर वार्तिक 19 (म.भा.) पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्। पा.सू. 1.1.20 (92)

पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्ध मात्र इत्यानुपूर्व्येण। तै.प्रा. 22.13 (77, 148)

पदस्य मध्ये। वा.प्रा. 4.2 पर उव्वट (47)

पदानां संहितां विद्यात्। अ.प्रा. 1-2 (170)

पदानुपूर्व्येण सपूर्वं आ ततस् -ततोव्यवेतं च सह व्यवायि च। ऋ.प्रा. 11.15 (67)

पदान्तपदाद्योः सन्धिः। वा.प्रा. 3.3 (173)

पदान्तान् पदादिभिः संदधेदिति यत्सा कालाव्ययेन। ऋ.प्रा. 2.2 (170)

पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति यत्सा कालाव्यवायेन। ऋ.प्रा. 2.12 (173)

पदान्ते व्यञ्जनं द्विः। च.अ. 3.26 (61)

पदान्त्यः पद्यः। च.अ. 1.3 (94)

पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च। अतीत्यैतान्यवस्यन्ति। ऋ.प्रा. 10.3 (67)

पदेष्वन्तरनिङ्ग्येषु प्लुतिः पद्येषु चोत्तरा। ऋ.प्रा. 9.25 (7)

पद्यं च। च.अ. 1.57 (157)

पद्यं पदार्थम्। ऋ.प्रा. 3.25 पर उ.भा. (94)

पद्यते गम्यते अर्थः अनेनेति पदमित्यन्वर्थसंज्ञः। पा.सू. 3.1.92 पर न्यास। (92)

परः सन्निकर्षः संहिताः। पा.सू. 1.4.109 (170)

पर इति उत्तरः। तै.प्रा. 1.30 (40)

पदपदशब्देनार्थ उच्यते। पा.सू. 1.2.42, वार्तिक 2 पर कैयट (92)

परमाण्वर्धाणुमात्रा। वा.प्रा. 1.61, वर्णान्तरं परमाणु। ऋ.तं. 34 (94)

परश्च। पा.सू. 3.1.2 (40, 111)

परस्य स्वरस्य व्यञ्जनानि। च.अ. 1.55 (157, 157)

परा। तै.प्रा. 1.12 पर वै.भा. (3)

पराक्रमस्वररेफोपधेन। ऋ.प्रा. 6.44 (133)

पराशरादिवद्दूरगामित्वात्प्लुत इत्युच्यते। तै.प्रा. 1.36 पर वै.भा. (116)

पराश्चतस्रोऽन्तःस्थाः। तै.प्रा. 1.8 (18)

परीमाणाच्च पञ्चमादिति। तै.प्रा. 23.2 (55)

परीमाणस्य पृथग्वचनं स्वराख्य-वर्णमात्रविषयत्वख्यापनार्थम्। तै.प्रा. 23.2 पर वै.भा. (57)

परीमाणाच्च पञ्चमादिति। तै.प्रा. 23.2 (57)

परे षड्डूष्माणः। तै.प्रा. 1.9 (50)

परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 1.6 पर वै.भा. (157, 158)

पर्वशब्देन पदमुच्यते। वा.प्रा. 1.138 पर उ.भा. (96)

पादस्य मध्ये अन्तःपादम्। ऋ.प्रा. 2.35 पर उ.भा. (18)

i knlSkk; =loB‍t lo"Vk{kj n' kk{kj l&½-çk 17-37 (63, 156)

पारिशेष्यादन्यानि घोषवत्संज्ञकानि व्यञ्जनानि। ऋ.प्रा.1.12 पर उ.भा.। (67)

पुर उष्णीक् तु सा तस्मिन् प्रथमे मध्यमे ककुप्। ऋ.प्रा. 16.30 (55, 98)

पुरस्ताद् बृहती नाम प्रथमे द्वादशाक्षरे। ऋ.प्रा.16.46 (99)

पुरु पृथ्वधिपूर्वेषु शकार उपजायते। ऋ.प्रा. 4.84 (33)

पुरु पृथ्वधि अस्कृतोषसम्। ऋ.प्रा. 4.84-88 (162)

पुषुकृधि-मनिष्पूर्वः। तै.प्रा. 7.2 (20)

पूर्व इति पूर्वः। तै.प्रा. 1.29, परा. ऋ. तं. 20, च.अ. 4.121 (99)

पूर्वककारस्सषकारपरः। तै.प्रा. 5.32 (18)

पूर्वत्रासिद्धम्। पा.सू. 8.2.1 (59)

पूर्ववाननुदेशः। वा.प्रा. 2.71(9)

पूर्वशास्त्रे अध्याय-प्रथमसूत्रे। तै.प्रा. 19.5 पर त्रिभा.र. (99)

पूर्वस्यानुस्वराविसर्जनीयौ। ऋ.प्रा. 1.24 (152, 167)

पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः। तै.प्रा. 2.48 (153, 180)

पूर्वेणोत्तर सँहितः। वा.प्रा. 1.155 , (170)

पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम्। ऋ.प्रा. 1.66 (82)

पूर्वोऽभ्यासः। पा.सू. 6.1.4 (24)

पूर्वौ चोपोत्तमात्वसरौ। ऋ.प्रा. 2.28 (43)

पूर्वौ दशाक्षरौ पादा उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः। विराट्स्थाना ह नामैषा त्रिष्टुभ् पङ्क्त्युत्तरैव वा। ऋ.प्रा.16.68 (147)

पृक्तस्वरो नाम ऋकारः लृकारश्च रेफ-लकारसंपृक्तत्वात्।
तै.प्रा. 13.16 पर वै.भा. (99)

पृथगर्थानामेकार्थीभावः समासः। पा.सू. 2.1.1 पर वा. (177)

प्रकर्षणे तदु विक्लिष्टमाहुः। ऋ.प्रा. 14.7 (144)

प्रकृतिदर्शनं समापत्तिः। च.अ. 4.73 (155)

प्रकृतिभाव ऋक्षु.। वा.प्रा. 4.82 (91, 100)

प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। ऋ.प्रा. व.वि. 5 (100)

प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। तै.प्रा. 24.5 (60, 100)

प्रकृतिस्थस्तु यशब्दः संहितायां न दृश्यते।
तत्स्थाने च न शब्दोऽन्यस्य लोपी नश्वरोपमः।। तै.प्रा. 1.23 पर वै.भा., (134)

प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य स्थाने यस्यापरो भवेत्। स्वतो गुणान्तरोपेतः स विकारीह तत्समः।। तै.प्रा. 1.23 पर वै.भा. (141)

प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः। पा.सू. 4.134 पर काशिका (141)

प्रकृत्या अन्तः पदमव्यपरे। पा.सू. 6.1.115 (18, 91, 115)

प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च। वा.प्रा. 3.11 (143, 160)

प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः। ऋ.प्रा. 2.51 (100)

प्रगृह्यावगृह्यसमापद्यान्तर्गतानां द्विर्वचनं परिहार इति मध्ये। च.अ. 4.117, (95)

प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु। वा.प्रा. 4.18 (95)

प्रगृह्याश्च प्रकृत्या। च.अ. 3.33 (100)

प्रचय-पूर्वश्च कौण्डिन्यस्य। तै.प्रा. 19.2 (142)

प्रणवश्च। वा.प्रा. 2.51 (178)

प्रतिकण्ठशब्देन निपातनमुच्यते। तद्धि कण्ठं कण्ठमिव
प्रतिसंगृह्यैकैकस्यैव प्रदर्श्यते। ऋ.प्रा. 1.54 पर उ.भा. (109)

प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव। ऋ.प्रा. 2.9 (110)

प्रतिश्रुत् प्रतिध्वनिः तत्सम्बन्धीनि 'प्रातिश्रुत्कानि'। तै.प्रा. 2.3 परत्रिभा.र. (116)

प्रतिहारश्चतुर्थे। ऋ.प्रा. 14.23 (110)
प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द:। येनोच्चारितेन अर्थ: प्रतीयते स शब्द:। म. भा. (आ.-1) (161)
प्रतृण्णं पदाध्ययनमुच्यते। ऋ.प्रा. व.वि.3 पर भाष्य (110)
प्रत्यय:। पा.सू. 3.1.1 (111)
प्रत्ययसवर्णं मुदि शाकटायनम्। वा.प्रा. 3.9 (160)
प्रत्येति पश्चादागच्छतीति 'प्रत्यय' पर:। तै.प्रा. 5.7 पर वै.भा. (111)
प्रथमग्रहणे वर्गम्। वा.प्रा. 1.64 (71, 135)
प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमा:। तै.प्रा. 1.11,(29)
प्रथम-पञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्। ऋ.प्रा. 1.39 (55)
प्रथमातिजगत्यासां सा द्विपञ्चाशदक्षर:। ऋ.प्रा. 16.80 (4)
प्राभ्या परा निर्दुरनु, व्युपाप सं परि प्रति न्यतयधि सूदवापि। उपसर्गा विंशतिरर्थवाचका: सहेतराभ्याम्। ऋ.प्रा. 12.20 (47)
प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति। तै.प्रा. 1.38 पर वै.भा. (42)
प्रश्नस्तृच:। ऋ.प्रा. 15.23 (111)
प्रस्तारपङ्क्तिरन्तत:। ऋ.प्रा.16.60 (115)
प्राग्निभ्यामनिन्धौ प्रश्लेषे। वा.प्रा. 5.33 (114)
प्राच्यपञ्चाल उपधनिभोदया: शाकल्यस्य स्थविरस्य। ऋ.प्रा. 2.81 (40)
प्रात:। ऋ.प्रा. 1.81 (131)
प्रेप्सु सन्नन्त (इच्छा द्योतक क्रिया)। च.अ. 1.29 (116)
प्लुतस्त्रि:। वा.प्रा. 1.58 (116)

ब

बर्बरताप्यसौकुमार्यमेव। ऋ.प्रा. 14.26 पर उ.भा. (118)
बर्स्वशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छून: प्रदेश उच्यते। ऋ.प्रा.1.46 (उ.भा.) (119)
बर्स्वा नाम रेफटवर्गस्थानयोर्मध्यप्रदेशा:। तै.प्रा. 2.18 पर वै.भा. (119)

बर्स्वेष्विति दन्तपङ्क्तेरुपरिष्टादुच्चप्रदेशेष्वित्यर्थः। तै.प्रा. 2.18 पर त्रिभा.र. (119)
बार्हती बृहती पूर्वः। ऋ.प्रा. 18.1 (118)
बार्हतो बृहती मुखः। ऋ.प्रा. 18.11 (118)
ब्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य। पा.सू. 8.3.18 (134)
ब्रह्मराशिरिति च ब्रह्मराशिरिति च। ऋ.तं. प्र.प्र. 4 (136)
बृहस्पतिर्वनस्पतिर्नराशंसस्तनूनप्त्रे तनूनपान्नक्तोषासोषासानक्ताद्यावापृथिवी द्यावाक्षामा क्रतुदक्षाभ्यामेतवा अन्वेतवा इति च। वा.प्रा. 2.47 (78)

भ

भावप्रधानमाख्यातम्। निरुक्त 1.1 (32)

म

मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्। तै. प्रा. 5.27 (13)
मणिवद्व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वर इष्यते। व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः। पा.शि.उ. (158)
मध्यमं कण्ठे वर्तते। ऋ.प्रा. 13.42 पर उ.भा. (121)
मध्ये हकारः। तै.प्रा. 2.6 (164)
मध्येऽवसानं तु चतुष्पदानाम्। ऋ.प्रा. 18.47 (29)
मन्द्रमध्यमताराख्येषु त्रिषु वाचस्स्थानेषु त्रिषु वाचः स्थानेषु प्रत्येकं सप्त स्वरभेदाः भवन्ति। तै.प्रा. 23.13 पर वै.भा.।
महापङ्क्तिः षडष्टकाः। ऋ.प्रा. 16.75 (122)
महासतो बृहत्यन्तो यो महाबृहतीमुखः स महाबार्हतो नाम। ऋ.प्रा. 18.10 (122)
महासतो बृहत्यर्धे व्यूहयोरेतयोः सह। ऋ.प्रा. 16.77 (123)
मा प्रमा प्रतिमोपमा समा च चतुरक्षरात्। चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्चच्छन्दांसि तानिह। ऋ.प्रा. 17.19 (123)
मात्रा। ऋ.तं. 42 (123)
मात्रा च। वा.प्रा. 1.56 (123)
मात्रा ह्रस्वः। ऋ.प्रा. 1.27 (123)

परिमाणमात्राकालः। तै.प्रा. 24.2 पर त्रिभा.र. (123)

मात्राकाल, अनुप्रदानात्संसर्गात् ..... पञ्चमादिति। तै.प्रा. 23.2 (96)

मान् विकारः। ऋ.तं. 64 (141)

मुखनासिक्या वा। तै.प्रा. 2.50, नासिक्याः, तै.प्रा. 21.8 (85)

मुखे विशेषाः करणस्य। च.अ. 1.18 (57)

मुखेन सुषिरेण शूनम्। ऋ.प्रा. 14.5 (162)

मूर्धनि षटौ । ऋ.तं. 6 (125)

मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्। वा.प्रा. 1.78 (125)

मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्। च.अ. 1.22 (69, 125)

मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ। ऋ.प्रा. 1.43 (124)

मे उदात्तम्। वा.प्रा. 1.97 (106)

मोऽनुस्वारः। पा.सू. 8.3.23 (96)

य

यः कश्चित्पादवान्मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसंपदा। स्वरयुक्तोऽवसानेन च तामश्चं परिजानते। ऋ.प्रा. वि.वि. 1 में उद्धृत (51)

यँ, लँ, वँ- यँ"यँ"युजं कृणुते।(ऋ.सं. 2.25.1) ऋ.प्रा. 4.7 पर उ.भा. (181)

यत्र यस्मिन् पदे (पद्याः) सावग्रहं भवति। ऋ.प्रा. 2.12 पर उ.भा. (94)

यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत् स्थितम् इत्युच्यते। ऋ.प्रा. 13.11 पर उ.भा. (184)

यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तत् अस्थितम् इत्युच्यते। ऋ.प्रा. 13.9 पर उ. भा. (31)

यत्र शिरसि स्थाने, प्रयोग उपलभ्यते तत् 'तारं' नाम सप्तमं वाचस्स्थानम्। तै.प्रा. 23.12 पर त्रिभा.र. (40)

यत्रोदात्तादीनां स्वराणां सन्धावादेशो न क्रियते तत्राविकारः प्रत्येतव्यः। वा.प्रा. 4.131 पर उ.भा. (34)

यत्स्थो दीर्घेति च त्वेष बृहती त्रिष्टुबेव च। ऋ.प्रा. 18.25 (118)

यथादिष्टं नामिपूर्वं सकारं सकारमन्योऽरिफितः ककारे। पकारे च प्रत्ययेऽन्तःपदं तु सर्वत्रैवोपाचरितः स सन्धिः। ऋ.प्रा. 4.41 (49)

यथायुक्ताद्विधिस्सा प्रकृतिः। तै.प्रा. 5.2 (144)

यथाशास्त्रं प्रसन्धानम्। च.अ. 4.122 (114)

यथास्वमक्षरसंहितादीनामप्येवम्। तै.प्रा. 24.4 (93, 138)

यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृन्ति त्रिपदप्रभृति। तै.प्रा. 1.61 (74)

यदत्रावर्णं विवृततरं तदन्यस्मादवर्णात्। शिवसूत्र 3, 4 पर वार्तिक. 10 (150)

यदद्य वामनुष्टुप्च त्रिष्टुप्चैवोपदिश्यते। ऋ.प्रा. 18.24 (34)

यद्यत्र स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्। निरुक्त 1 (169)

यदधिगावो अधिगू ककुप् च त्रिष्टुबेव च। ऋ.प्रा. 18.23 (58)

यदव्यञ्जनान्तं यदुचापि दीर्घम् संयोगपूर्वञ्च तथाऽनुनासिकम्। एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्। तै.प्रा. 22.14 (65)

यदि सूक्तस्य शेषो द्वृचो भवति .....पूर्वं गच्छेद् वा संख्यावशेन। ऋ.प्रा. 15.30, पर उ.भा. (112)

यदुपसंहरति तत् करणम्। तै.प्रा. 2.32 (32, 47)

यद् उपक्रम्यते तत् स्थानम्। च.अ. 1.18 (183)

यद्धिसन्धि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्। ऐ.आ. 3.1.3 पर सा.भा. (88)

यमः प्रकृत्यैव सदृक्। ऋ.प्रा. 6.32 (125, 126)

यमश्च। वा.प्रा. 1.103 (166)

यमाः स्वरा उदात्तादयः। तै.प्रा. 23.13 पर त्रिभा.र. (188)

यमानुस्वार-नासिक्यानां नासिके। वा.प्रा. 1.74 (85)

यमान्विद्यादयस्पिण्डान् सान्त-स्थान् दारुपिण्डवत्। सप्तपिण्डान् विदित्वापि साक्षात् ब्रह्मणि लीयते। वा.प्रा. 4.165 पर उ.भा., अ.भा. (168)

वकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम्। तै.प्रा. 5.30 (12)

यवमध्या तु मध्यमे। ऋ.प्रा. 16.72 (128)

यवमध्योत्तरोऽपि च। ऋ.प्रा. 18.12 (127)
यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः। वा.प्रा. 4.127 (134)
यस्यास्त्वष्टाक्षरो मध्ये सा पिपीलिकमध्यमा। ऋ.प्रा.16.39 (97)
याः काश्चिद्बहुपादास्तु गायत्र्यो हीनतां गताः। अक्षरैर्बहुभिस्तास्तु गायत्र्य उपधारयेत्। ऋ.प्रा. 17.4 (146)
यादविच्छायां स्वरात्कर्मनामतन्मानिप्रेप्सुषु। च.अ. 4.27 (57)
यादविच्छायां स्वरात्कर्मनाम-तन्मानिप्रेप्सुषु। च.अ. 1.29 (116)
यावदवधारणे, तथावधरणे, मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे। अमरकोष (28)
यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः। ऋ.तं. प्र.प्र. 2, वा.प्रा. 8.14-15 (18)
युग्माः सोष्माणः। ऋ.तं. 16 (183)
युग्माष्टाक्षरौ पादावुभौ द्वादशाक्षरौ सा सतोबृहती नाम। ऋ.प्रा.16.57 (171)
युग्मौ सोष्माणौ। ऋ.प्रा. 1.13 (183)
युवाकु हीति गायत्री त्रय सप्ताक्षरा विराट्। सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्यै वैकविंशिका।। ऋ.प्रा 16.21 (97)
युष्मे, अस्मे त्वे। वा.प्रा. 1.76 (105)
ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णाः विभागाधिकास्ते मध्यमायां ये मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिका ते विलम्बितायाम्। पा.सू. 1.1.70, वा. 4 पर म.भा. (155)
येकवचने। ऋ.तं. 19 (181)
येन स्पर्शयति तत् करणम्। तै.प्रा. 2.34 (56)
येनोपक्रम्यते तत् करणम्। च.अ. पर ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या में उद्धृत (57)
योगवहत्वं च इत्थम्। योगेन अकारादिवर्ण-समुदायेन सहिताः सन्ति। आत्मानं च वहन्त इति योगवाहाः। वा.प्रा.8.18 पर अन. भा. (128)

र

र एफेन च। वा.प्रा. 1.39 (130)
रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः। ऋ.प्रा. 1.36 (128)
रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्। ऋ.प्रा. 13.20 (128)

रमृस्थमस्वे। ऋ.तं. 107 (31)
रयिवृधे च। वा.प्रा. 3.137 (151)
रलावव्यपरौ। ऋ.तं. 24 (166)
रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। वा.प्रा. 4.17 (189)
रषाभ्यां नो णः समानपदे। पा.सू. 8.4.1 (175)
रात् सण्। ऋ.तं. 269 (61)
रादिफः। पा.सू. 3.3.108 पर वा.प्रा. 3.4 (130)
रिति रेफात्। ऋ.त्तं. प्र.प्र. 3 (130, 130)
रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चार्यत इति रेफः। तै.प्रा. 1.17 पर वै.भा. (31)
रेफं बर्स्वमेके। ऋ.प्रा. 1.46 (119, 130)
रेफं स्वरधौ। वा.प्रा. 4.37 (130, 131)
रेफं हकारं क्रमजं च। च.अ. 1.58 (167)
रेफमेतेषु। तै.प्रा. 8.6 (131)
रेफस्य दन्तमूलानि। च.अ. 1.28 (130)
रेफहकारक्रमजं च। च.अ. 1.58 (166)
रेफात्स्वरोपहिताद्व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा। ऋ.प्रा. 6.46 (189)
रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धचतुर्थमित्येके अन्यस्मिन् व्यञ्जने चतुर्थमष्ट्यां वा। च.अ. 1.101-102 (189)
रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यक् दन्तमूलेभ्यः। तै.प्रा. 2.41 (69, 75, 130)
रेफे लुप्यते दीर्घञ्चोपधा। वा.प्रा. 4.36 (1, 87)
रेफो मूले वा। ऋ.तं. 8 (130)
रेफोऽस्तृयकारे च परस्य चार्धे। पूर्वे हसीर्योस्तु न वेतरस्मात् मध्ये सः। वा.प्रा. 4.148 (176)
रेफोदयो लुप्यते। अवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते। ऋ.प्रा. 4.28 (1)
रेफोपधामपरे विद्यमानम्। ऋ.प्रा. 6.51 (189)
रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः। तै.प्रा. 21.15 (189)

रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः। ऋ.प्रा. 4.15 (96)
रो दन्तमूले। वा. प्रा. 1.68 (130)
रौ घम्। स्वरौ दीर्घमापद्यते। उभावेकं विकारः ऋ.तं. 93 (114)

ल

लघीयो व्यञ्जनादृते। ऋ.प्रा. 18.44 (132, 133)
लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम्। ऋ.प्रा. 18.43 (132)
लघु ह्रस्वं न चेत् संयोग उत्तरः। ऋ.प्रा. 18.38 (132)
लघुसव्यञ्जनं ह्रस्वम्। ऋ.प्रा. 18.43 (132)
लुङ्मुदि जित् परे। वा.प्रा. 3.13 (20)
लुप्यते त्वकार एकार ओकारपूर्वः। तै.प्रा. 11.1 (24)
लुबन्यः। ऋ.तं. 83 (24)
लृ लसीका दन्ते। वा.प्रा. 1.69 (71)
लेशः एकदेशयथोक्तविषये लुप्यते। तै.प्रा. 10.23 पर वै.भा. (134)
लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनस्य। च.अ. 2.24 (6, 134)
लेशेन वा वचनं पीडनं वा। ऋ.प्रा. 14.17 (133)
लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणं। तै.प्रा. 10.23 पर त्रिभा.र. (134)
लेशो वात्सप्रस्येतयोः। तै.प्रा. 10.23 (134)
लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य। च.अ. 2.18 (134)
लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः। (स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः) वा.प्रा.1.1 पर उव्वट तथा अनन्त भट्ट (169)
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। ऋ.प्रा. वि.वृ. 5 (134)
लोपो व्योर्वलि। पा.सू. 6.1.66 (43)
लोमश्यं च क्ष्वेडनमुष्मणां तु। ऋ.प्रा. 14.20 (63, 135)

व

वर्गविपर्यये स्फोटनः पूर्वेण चेद् विरामः च.अ. 2 (187)
वर्गेषु जिह्वाप्रथनं चर्तुषु। ऋ.प्रा. 14.21 (69)
वर्गेष्वाद्यानां चतूर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः। पा.सू. 7.1.1 पर सि.कौ. (126)

प्रथमो वर्गोत्तरो वर्णाख्यः। तै.प्रा. 1.27 (135)
वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्यः। तै.प्रा. 1.16 (58)
वर्ण इति पूर्वः कारादाख्यायाम्। व्यञ्जनमकारपूर्वात्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (136)
वर्णकारौ निर्देशकौ। तै.प्रा. 22.4 (58, 135)
वर्णपृक्तः शब्दो वाच उत्पत्तिः। तै.प्रा. 23.3 (161)
वर्णस्यादर्शनं लोपः। वा.प्रा. 1.141 (134)
वर्णादन्त्यात्पूर्व उपधा। च.अ. 1.92 (44)
वर्णानामभावः अवसानसंज्ञः स्यात्। पा.सू. 1.4.110 पर सि.कौ. (29)
वर्णान्तरं परमाणु स्वरयोरर्धमात्रा, विरामे मात्रा, नित्यविरते द्विमात्रम् गाथासु, त्रिमात्रं सामसु। ऋ.तं. 34-39 (148)
वर्णो वा। वा.प्रा. 8.49 (1)
वर्णोत्पत्त्यन्तरभावी अनुरणनरूपः शब्दः नादः। म.भा. पा.सू. 1.1.19 पर उद्योत (82)
वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्।
गुर्ववेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः।। ऋ.प्रा. 17.39 (154)
वस्वन्तस्य पञ्चपद्याम्। च.अ. 1.88 (90)
वामी वामस्य द्युतयः। ऋ.सं. 16.48.20-21 (127)
वायुं प्रकृतिमाचार्याः। ऋ.तं. प्र.प्र.1 (140)
वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्। ऋ.प्रा. 13.1 (14, 115)
वायुः प्राणः .....। ऋ.प्रा. 13.1 (82, 149)
वायुः प्राणः श्वासोऽघोषाणाम्। ऋ.प्रा. 13.14 (163)
वायुः प्राणः। ऋ.प्रा. 13.1 (168)
वायुमनुप्रदीयत इत्यनुप्रदानम्। किं च तत् ? श्वासनादोभयम्। ऋ. प्रा.13.1 पर उ.भा. (14)
वायोः विसर्जने अः इति विसर्जनीयः। वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वात्। तै.प्रा. 1.18 पर वै.भा. (153)
विकारी यथासन्नम्। वा.प्रा. 1.142 (35)

विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्। रुक्कमः इत्यत्र स्वरात् संयोगादि इत्यादिना द्विर्भावे कृतेऽनेन सूत्रेण द्वितीयस्य ककारस्य यम इत्यस्य कार्यक्रमः क्रियते। वा.प्रा. 4.163 पर उ.भा. (126)

विच्छेदात् स्पर्शोष्मपराच्च षोषिणः। ऋ.प्रा. 6.47 (133)

विधानं विधिः। पा.सू. 1.1.57 पर म.भा. (144)

विधिर्विधानं प्रकृतिरित्यर्थः। तै.प्रा. 5.2, पर त्रिभा.र. (144)

विधीयते विधिरिति। पा.सू. 2.1.1 पर म.भा. (144)

विनामे च। च.अ. 4.34 (81)

विनामे। वा.प्रा. 3.193 (81)

विनाशो लोपः। तै.प्रा. 1.57 (134)

विपरीता विपर्यये। ऋ.प्रा.16.58 (145)

विपर्ययो वा. .....। ऋ.प्रा. 14.58 (145)

विरतिर्विरामः। विरम्यते अनेन इति वा विरामः। पा.सू. 1.4.110 पर काशिका (148)

विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विषये स्थिताः। ऋ.प्रा. 17.3 (146)

विरामोऽवसानम्। पा.सू. 1.4.110 (29, 148)

विरामोवर्णयोर्मध्ये ह्यनुच्चारणकालोभ्यसंयुते। व्यासशिक्षा 27.5 (148)

विवरणं विवृत्तिः स्वरयोः पृथगुच्चारणम्। पा.शि. पञ्जिका भा. (150)

विवृतं स्वरोष्मणाम्। ऋ.तं.प्र.प्र.3 (149)

विवृततरमकारैकारौकाराणाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (150)

विवृतास्य-प्रयत्ना इतरे स्वराः। यथा अस्पृष्टास्यप्रयत्नाः स्वराः। वा.प्रा. 1.72 पर उव्वट (149)

विवृते श्वासः। तै.प्रा. 2.5, अघोषेषु श्वासः 2.1 (163, 165)

विवृते श्वासः। तै.प्रा. 2.5 विवृतोऽघोषो। ऋ.तं. प्र.प्र. 31 (149)

विवृतोऽघोषः . . . . . . श्वासोऽघोषाणाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (3)

विवृत्तिरसन्धिः। वा.प्रा. 7.6 पर, अ. भा. (150)

विवृत्यभिप्रायेषु च पीवो अन्नाँ रयिवृधः। दधन्वाँ यो जुर्जुवाँ यः स्ववाँ यातु दद्वाँ वेति। ऋ.प्रा. 4.68 (151)

विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। तेन य उच्यते स अनुदात्तः। ऋ.प्रा. 3.1 पर उ.भा. (9)
विष्टारपङ्क्तिर्बार्हतः ऋ.प्रा.16.62 (152)
विसर्जनीयः। वा.प्रा. 1.86 (94)
विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्परः। ऋ.प्रा. 4.24 (87)
विसर्जनीयः पूर्वस्वरान्तेन समानस्थानो भवतीत्येकेषां मतम्। तै.प्रा. 2.48 पर वै.भा. (181)
विसर्जनीयश्च परसस्थानोऽघोषे। च.अ. 2.40 (160)
विसर्जनीयस्य सः। पा.सू. 8.3.34 (49)
विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.34 (152, 167)
विसर्जनीयोऽभिनिष्ठानः। च.अ. 1.42 (23, 153)
विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदयः आकारम्। ऋ.प्रा. 2.24 (27, 93)
विहारसंहारयोर्व्यासपीडने। ऋ.प्रा. 14.3 (98)
वेति वैभाषिकः। तै.प्रा. 22.7 (156)
वैराजतैःजागतौः पादैर्यो वाचेत्यभिसारिणी। ऋ.प्रा.16.66 (24)
व्यञ्जनं पूर्वस्यान्तस्वरम्। ऋ.तं. 20 (3)
व्यञ्जन विधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीनश्वासनादः। च.अ. 1.43 (132)
व्यञ्जनमर्धमात्रा। वा.प्रा. 1.59 (27,157)
व्यञ्जनशेषो घोषवान्। तै.प्रा. 1.14 (66)
व्यञ्जनम् कादि। वा.प्रा.1.47 (157)
व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्य च कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते। पा.सू. 6.1.2 पर म.भा. (158)
व्यञ्जनान्यव्यवेतानि स्वरैः संयोगः। च.अ. 1.98 (167)

व्यञ्जने। ऋ.तं. 22

व्यञ्जयति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थान् इति व्यञ्जनानि। ऋ.प्रा. 1.6 पर उ.भा, (157, 158)

व्यथनं नाम सतोऽन्यथाश्रवणम्। ऋ.प्रा. 14.1 पर उ.भा. (159)

व्यवधानोऽन्त्यविकारे। ऋ.तं. 185 (33)

व्याडिर्नासिक्यमनुनासिकं वा। ऋ.प्रा. 13.37 (12)

व्याडेः सर्वत्राभिनिधानलोपः। ऋ.प्रा. 6.43 (133)

व्यापन्न ऊष्मसन्धिः स विक्रान्तः प्राकृतोपधः। ऋ.प्रा. 4.35 (143)

व्याप्तिविशेषविषया प्रयोक्तुरिच्छा वीप्सा . . . . . .। तेषां क्रियागुणाभ्यां युगपत्प्रयोक्तुमिच्छा वीप्सा। पा.सू. 8.1.4 पर काशिका (154)

व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु संपदे। ऋ.प्रा. 17.22 (147)

श

शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम्। वा.प्रा. 3.141 (186)

शब्दं कुरु। शब्दं मा कार्षीः। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। म.भा. पश्पशाह्निक (161)

शब्दस्तत्। वा.प्रा. 1.7 (161)

शब्दस्तदात्मकः वाय्वात्मकः इत्यर्थः। वा.प्रा. 1.17 पर उ.भा. (161)

शसि वीप्सायाम्। च.अ. 4.19 (154)

दशाक्षरास्त्रयो विराट् त्रयो वैकादशाक्षराः। ऋ.प्रा.16.42 (146)

शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एषमात्रापरिग्रहः। ऋ.प्रा. 13.50 (116)

शिति, षिति, सिति, हिति। वा.प्रा. 8.17 (50)

शिरसि तारम्। तै.प्रा. 23.12 (72)

शे दन्तमूले। वा.प्रा. 1.68 (75)

शे। पा.सू. 1.1.13 (106)

शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्। ऋ.प्रा. 1.47 (45, 53)

शेषो व्यञ्जनानि। तै.प्रा. 1.6 (157)

शौद्धाक्षरोच्चारणं च प्रतृण्णम्। ऋ.प्रा. वि.वृ. 3 (110)

श्रुतिर्वा यमेन मुख्याऽस्ति समानकाला। ऋ.प्रा. 6.33 (126)

श्वासो नाद इति शाकटायनः। नादानुप्रदानः स्वरघोषवन्तः। ऋ.तं.प्र.प्र. 1, 3 (82)

श्वासोऽघोषनिभता वा हकारे। ऋ.प्रा. 14.28 (3, 163)

श्वासोऽघोषाणाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (163)

श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानः नादो घोषवत्सस्वरेषु। च.अ. 1.12, 13 (14)

श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानम्। च.अ. 1.12 (3, 163)

ष

षटौ मूर्ध्नि। वा.प्रा. 1.67 (125)

षट्-पुरसोरुकारोऽन्तस्य दशदाशयोरादेशश्च मूधर्न्यः। च.अ. 1.63 (34)

षट्कः सप्तकयोर्मध्ये स्तोतृणां विवाचीति। यस्या सातिनिचृन्नाम गायत्री द्विर्दशाक्षरा। ऋ.प्रा. 16.22 (5)

षट्-पञ्चाशत्तु शक्वरी। ऋ.प्रा. 16.81 (161)

षट्सप्ततिस्त्वतिधृतिः। ऋ.प्रा. 16.86 (4)

षडक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षरः, एणोष्णीषगर्भा गायत्री। ता मे अश्व्यानामिति। ऋ.प्रा. 16.28 (50)

षण्महापदपङ्क्तिस्तु षट्कोऽन्त्यः पञ्च-पञ्चकाः। ऋ.प्रा. 16.43 (122)

षत्वणत्वोपाचारदीर्घटुत्वलोपान्पदानां चर्चापरिहारयोः समापत्तिः। च.अ. 4.74 (35, 49, 155)

षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः। ऋ.प्रा. 1.71 (104, 105)

षष्टिरेवातिशक्वरी। ऋ.प्रा. 16.82 (5)

षोडषादितः स्वराः। तै.प्रा. (105)

ष्मिणोर्द्विवतः। ऋ.तं. 245 (78)

स

सन्धेर्विवर्तनं निर्भुजं वदन्ति। ऋ.प्रा.वि. वृ. 3 (88)

सन्ध्यं द्विवर्णम्। ऋ.तं. 93-95 (114)ण

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। पा.सू. 1.1.16 (101)

संयुक्तं व्यञ्जनं संयोग-संज्ञं भवति। ऋ.तं. 27 पर स्वोपज्ञ व्या. (168)

संयोगं विद्याद् व्यञ्जनसङ्गमम्। ऋ.प्रा. 18.40 (167)

संयोग-पूर्व व्यञ्जनान्तावसानगताः स्वराः द्विमात्राः। वा.प्रा. 4.109 (65)
संयोगस्तु व्यञ्जनसंनिपातः। ऋ.प्रा. 1.37 (167)
संयोगादि। तै.प्रा. 21.4 (167)
संयोगादि स्वरात्। च.अ. 3.28 (61)
संयोगादिर्वा। ऋ.प्रा. 1.25 (166)
संयोगादिश्च वैवं च। ऋ.प्रा. 18.35 (166)
संयोगाद्। तै.प्रा. 21.4, 1.102 (166)
संयोगादिः पूर्वस्य। वा.प्रा. 1.102
संयोगानां स्वरभक्त्या व्यवायः। ऋ.प्रा. 14.58 (159)
संयोगानां स्वरभक्त्या व्यवायो। विक्रमणं क्रमणं वा यथोक्तम्। ऋ.प्रा. 14.58 (142)
संयोगे गुरुः। पा.सू. 1.4.11 (65)
संवृत-विवृतयोर्मध्ये मध्यमप्रकारे यः शब्दः क्रियते स हकारसंज्ञो भवति। तै. प्रा. 2.6 त्रिभा.र. (164)
संवृतास्य प्रयत्नः आकारः। अतोऽकारस्य मात्रिकस्य संवृतास्यप्रयत्नस्य। वा.प्रा. 1.72 पर उ.भा. (169)
संवृते कण्ठे नादः क्रियते नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। तै.प्रा.2.4, 2.8 (82)
संवृतोऽकारः। च.अ. 1.36 (169)
संवृतो घोषवान्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (169)
संवृत्तकरणतरमेकेषाम्। तै.प्रा. 2.27 (169)
संसर्गो वायुस्थाना संसर्गोऽभिघातात्मकः। स त्रिविधः . . . . . . वायु ऊर्णापिण्डवदिति। तै.प्रा. 23.2 पर वै.भा. (56)
संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः। वा.प्रा. 1.1 पर उ. भा. (173)
संस्तारपङ्क्तिर्मध्यतः। ऋ.प्रा. 16.61 (170)
संस्पृष्टरेफमृवर्णम्। च.अ. 137 (176)
स एवादिरन्तश्च। वा.प्रा. 1.152 (22)

स खलु खविशेषं प्रतिपन्नः कण्ठं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति। ऋ. तं.प्र.प्र. 1.04 (163)

स नो वाजेषु पादौ द्वौ जागतौ द्विपदोच्यते। ऋ.प्रा. 16.26 (77)

स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेषामर्धसदृशमेकेषाम्। तै.प्रा. 11.19 (91, 115)

स महदथ पित्पूर्वश्च। तै.प्रा. 4.7 (101)

स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्नः आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति। ऋ.तं. प्र.प्र. 1 (81)

स सङ्घातादीन् वाक्। वा.प्रा. 1.9 (140)

सकार-रेफलकाराश्च। ऋ.प्रा. 1.45 (75, 130)

सङ्घातो नाम प्रयत्नः। स बाह्याभ्यन्तरत्वेन द्विधा। स सङ्घातादीन् वाक्। वा.प्रा. 1.9 पर अ. भ. (170)

सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त 1.1 (83)

सत्त्वाभिधायकं नाम। ऋ.प्रा. 12.25 (83)

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न ०य`ित तदव्ययम्। पा.सू. 1.1.37 पर काशिका (30)

सन्धिर्विक्रान्त एवैषः। ऋ.प्रा. 4.78 (143)

सन्धिश्चतुर्विधः भवति लोपागमवर्णविकारः प्रकृतिभावश्चेति। पा. शि. 3.21 (173),

सन्ध्यं द्विवर्णम्। ऋ.तं. 95 (78, 172)

सन्ध्य उष्माप्यनिङ्ग्यै। ऋ.प्रा. 5.41 (7)

सन्ध्यक्षरं परम्। वा.प्रा. 1.45 (171)

सन्ध्यक्षरमयवायाम्। वा.प्रा. 4.48 (120)

सन्ध्यक्षराणामयवायावः। च.अ. 3.40 (120)

सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद् वृत्तिः। च.अ. 1.40 (171)

सन्ध्यक्षरेषु वर्णेषु वर्णान्तमोष्ठ्यमुक्ष्येत।
उपध्मानीयमुकारो व पवर्गः तथा मतः।। च.अ. (भा.) 125 (45)

सन्ध्यमयवायावम्। ऋ.तं. 11 (120)

सन्ध्यम् द्विवर्णम्। ऋ.तं. 95 (172)
सन्ध्यानि सन्ध्यक्षराण्याहुरेके। द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु। ऋ.प्रा. 13. 38 (171)
सन्ध्येष्वकारो। ऋ.प्रा. 13.39 (172)
सन्नं दृष्ट्वा सन्नतरः इत्येतद् भवति। पा.सू. 1.2.33 पर म.भा. (89)
सन्निकर्षः संहिता। ऋ.तं. 67 (170)
सप्त वाचस्स्थानानि भवन्ति। तै.प्रा. 23.4 (140, 182)
सप्त स्वरा ये यमास्ते। ऋ.प्रा. 13.44 (188)
समं सर्वत्रेति कौहलीपुत्रः। तै. प्रा. 17.2 (12)
समयास्त्वगण्याः परावरार्धयाः। ऋ.प्रा. 15.27 (111)
समानपद-विवृत्तिविराम अर्धमात्रः। तै.प्रा. 22.13 (27)
समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्। च.अ. 1.99 (125, 175)
समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्। च.अ. 1.14 (41)
समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्या। वा.प्रा. 1.80, (54)
समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः। वा.प्रा. 1.43 (179)
समानाक्षरं सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्। . . . . एते प्रश्लिष्टा नाम सन्ध्यः। ऋ.प्रा. 2.15-18, 20 (113)
समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्। . . . . . ते क्षैप्राः प्राकृतोदयाः। ऋ.प्रा. 2.21-23 (62)
समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः। च.अ. 3.42 (114, 179)
समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वं सामवशाँश्च सन्धीन्। उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्यालिशाकल्यगार्ग्याः। ऋ.प्रा. 13.31 (178)
समापाद्यानामन्ते संहितावद्वचनम्। च.अ. 4.124 (178)
समाम्नायः पाठक्रमः। तै.प्रा. 11 पर त्रिभा.र. (177)
समाम्नाय समाम्नातः। नि. 1.1 (177)
सयुक् सण्। ऋ.तं. 27 (167, 171)
सर्वःशेषो व्यञ्जनान्येव। ऋ.प्रा. 1.6 (157)

सर्वमग्ना 3 इलाजी 3 इच्छाची 3 निति त्रिमात्राणि च। वा.प्रा. 2.50 (178)
सर्वमेकयमं पूर्वेषां सर्वमेकयमं पूर्वेषाम्। तै.प्रा. 15.7 (52)
सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम्। ऋ.प्रा. 1.54 (109)
सर्वादीनि सर्वनामानि। पा.सू. 1.1.27 (178)
सर्वो अःकार ओकारम्। वा.प्रा. 4.43 (112)
सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफं रेफी ते पुना रेफसंध्यः। ऋ.प्रा. 4.27 (130)
सवर्णत्वं नाम सारूप्यमुच्यते। तै.प्रा. 14.23 (180)
सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। ऋ.प्रा. 18.32 (2, 2)
सशब्दमुपब्दिमत्। तै.प्रा. 23.1 (46)
सस्थानः समानस्थानकरणः भवति। तै.प्रा. 2.48 पर त्रिभा.र. (180)
सस्थानः। ऋ.तं. 92 (180)
सहक्रम्यः परक्रमे। ऋ.प्रा. 18.36 (166)
सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। वा.प्रा. 1.100 (157)
सहोदयास्ताः प्रगृहीतपदाः सर्वत्रैव। ऋ.प्रा. 2.54 (100)
साक्षरः पदान्तोऽवसितः। ऋ.तं. 18 (29, 175)
सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः। तै.प्रा. 12.14, त्रिभा.र. (86)
साप्तमिकौ। पा.सू. 1.1.19 (104)
साप्तमिकौ च पूर्वौ। ऋ.प्रा. 1.72 (104)
साम्प्रतिके प्रकृतिस्थेल कण्ठे सति हकारो बाह्यप्रयत्नः क्रियते। तै.प्रा. 2.6 पर वै.भा. (164)
साम्यं यथा स्थानकरणकालादिभिरनयोरस्ति तौल्यमिति। तै.प्रा. 24.5 पर त्रिभा.र. (182)
सिं सवर्णे दीर्घम्। वा.प्रा. 4.52 (114)
सिमादितौऽष्टौ स्वराणाम्। वा.प्रा. 1.44 (175)
सुडनपुंसकस्य। पा.सू. 1.1.43 (90)
सैव प्लुतिः। ऋ.प्रा. 7.2 (117)

सोऽन्वक्षरसन्धिर्वक्त्र:। ऋ.प्रा. 4.37 (20)
सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन। घोषिणां घोषिणैव अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषैः; शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके। ऋ.प्रा. 13.16, 19 (184)
सोष्मता च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन। ऋ.प्रा. 13.16 (180)
सोष्मोष्मणामनुनादोऽप्यनाद:। ऋ.प्रा. 14.19 (7, 10)
स्थानकरणयोः (विहारसंहारयोर्व्यासपीडने) विहारे व्यासो नाम दोष जायते, संहारे पीडनं च। व्यासोऽविवेक:। संहारे पीडनम् द्विर्भाव:। ऋ.प्रा. 14.3 पर उ.भा. (98)
स्थानकरणयोर्विहारे व्यासो नाम दोषो जायते व्यासोऽविवेक:। ऋ.प्रा. 14.3 पर उ.भा. (160)
स्थानीवदादेशोऽनल्विधौ। पा.सू. 1.1.56 (34)
स्थाने। वा.प्रा. 1.62, 71 (183)
स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत् स्थानम्। तै.प्रा. 2.31 (47)
स्पर्शपूर्वश्शकारश्छकारम्। तै.प्रा. 5.34 (18)
स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण। तै.प्रा. 2.44 (54, 73,75, 125)
स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधान:। ऋ.तं.1.44 (132)
स्पर्शाः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराण्यास्थापितानामवशंगमं तत्। ऋ.प्रा. 4.1 (28)
स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु। ऋ.प्रा. 6.29 (125)
स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानपूर्व्यान्नासिक्याः तान्यमान्येके। तै.प्रा. 21.12-13 (85, 125)
स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्चवर्गा:। तै.प्रा. 1.10 (135)
स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्च पञ्च वर्गा:। प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थोत्तमा:। तै.प्रा. 1.10-11 (165)
स्पर्शे गस्य। ऋ.तं. 13 (135)
वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्य:। तै.प्रा. 1.16 (135)
स्पर्शे चोषः प्रत्यये पूर्वपद्य:। ऋ.प्रा. 1.80 (111)
स्पर्शेष्वेव संख्या। वा.प्रा. 149 (165)
स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तःस्था। ऋ.प्रा. 1.9 पर उ.भा. (19)
स्पृष्टमस्थितम्। ऋ.प्रा. 13.9 (31, 186)

स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। ऋ.तं.प्र.प्र. 3 (56, 94, 186)
स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। च.अ. 1.29; परा.तै.प्रा. 2.33-34 म.भा.वा. 3 पर पा.सू. 1.1.10 (94, 187)
स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः कादयो मान्ता। ऋ.प्रा. 1.7 पर उ.भा. (185)
स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात् स्पर्शा इत्याख्यायन्ते। तै.प्रा. 1.7 पर वै.भा. (184)
स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात्। वा.प्रा. 4.165 (187)
स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्। वा.प्रा. 4.165 पर उ. भा. (187)
स्याद् वाम्नायधर्मित्वात् छन्दसि नियमः अम्नाचो वेदरु। वा.प्रा. 1.4 पर उ.भा. (36)
स्नादिषु चैकपद ऊष्मपरः। तै.प्रा. 15.4 (51)
स्वयं राजन्त ते स्वराः अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति। पा.सू 1.2.29 पर म.भा. (177)
स्वयं राजन्ते नान्येन व्यञ्जन्त इति स्वराः। तै.प्रा. 1.5 पर वै.भा. (176)
स्वर-सापेक्षं व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 21.1 पर त्रिभा.र. (158)
स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्। तै.प्रा. 14.1 (79)
स्वरभक्तिः पूर्वभागमक्षराङ्गम्। ऋ.प्रा. 1.32 (166)
स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः। पा.शि. 5 (16)
स्वरयोरनन्तरयोरन्तरं विवृत्तिरुच्यते। वा.प्रा. 1.117 पर उ.भा. (150)
स्वरयोरर्धमात्रा। ऋ.तं. 35 (27)
स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः। तै.प्रा. 20.6 पर वै.भा. (150)
स्वरसापेक्षं व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 21.1 पर त्रिभा.र. (157)
स्वरस्थान्त्यं तु पूर्वभाक्। ऋ.प्रा. 18.33 (157)
स्वराज एवं-पूर्वस्य याः काश्चैवं गताः ऋचः। ऋ.प्रा. 17.3 (190)
स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत् स्थानम्। तै.प्रा. 2.31 (183)
स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र। वा.प्रा. 4.101 (61)
स्वरादि निपातमव्ययम्। पा.सू. 1.1.37 (30, 48)

स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते, संयोगादिः सक्रमोऽविक्रमे सन्। ऋ.प्रा. 6.1 (60)

स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्। तै.प्रा. 14.1 (60)

स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्। ऋ.प्रा. 13.11 (184)

स्वरान्तरं तु विवृत्तिः। ऋ.प्रा. 2.3, (150)

स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य। ऋ.प्रा. 1.23 (156)

स्वराश्च लृकारवर्जम्। वा.प्रा. 1.87 (94)

स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते। वा.प्रा. 4.140 (108)

स्वरिततयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै.प्रा. 19.1, (89, 142)

स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम्। वा.प्रा. 4.141 (107)

स्वरितात्संहितामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः। तै.प्रा. 21.10 (107)

स्वरितादनुदात्त उदात्तश्रुतिः। च.अ. 3.71 (107)

स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वाबहूनि वा। ऋ.प्रा. 3.17 (109)

स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्। ऋ.प्रा. वि.वृ.6 (88)

स्वरितोदात्तेऽनन्तरमनुदात्तम्। च.अ. 3.74 (107)

स्वरे नामिनोऽन्तःस्था। च.अ. 3.39 (62)

स्वरेषु च। ऋ.प्रा. 4.70 (186)

स्वरे भाव्यन्तस्थाम्। वा.प्रा. 4.47 (62)

स्वरोऽक्षरम्। च.अ. 1.93 (2)

स्वरोऽक्षरम्। म.भा.आ. 2 (2)

स्वरोऽक्षरम्। वर्णं वाऽऽहुः पूर्वसूत्रम्। म.भा.आ. 2 (1)

स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। उत्तरैश्चावसितैः। वा.प्रा.1.99-101 (2)

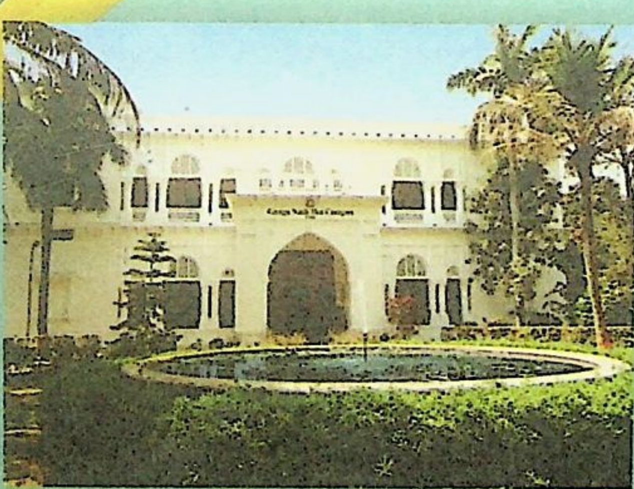
स्वर्यते शब्द्यते व्यञ्जनमेभिः स्वेन राजन्त इति। या.शि., पृ. 76 (177)

स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच् प्रत्ययः। पा.शि. 4 पर पञ्जिका भा. (176)

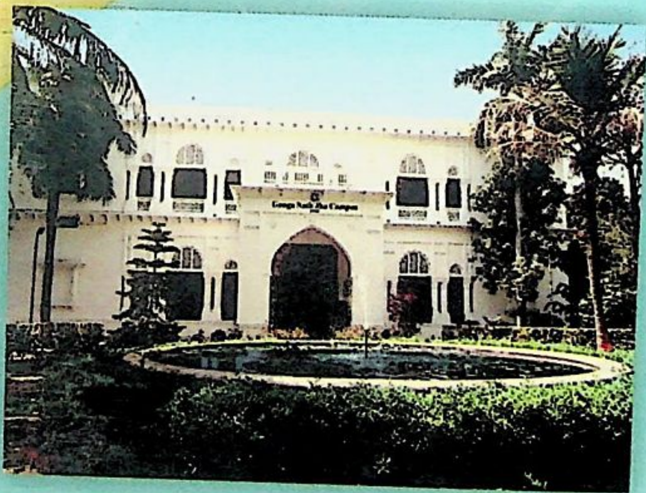
स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वराः। ऋ.प्रा. 1.3 पर उ.भा. (176)
स्वारोऽनुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्। ऋ.प्रा. 13.11 (31)

ह

हकारान्नासिक्येन। च.अ. 1.100 (85)
हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्। तै.प्रा. 21.14 (85)
हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति। तै.प्रा. 2.35 (70)
हन्यादुपमानं च। तै.प्रा. 7.3 (21)
हर्षिका सर्षिका मर्षिका सर्वमात्रा विराट्कामा।
द्व्यक्षरादीनि मादीनां वैराजान्यनुचक्षते।। ऋ.प्रा. 17.20 (191)
हलोऽनन्तरा संयोगः। पा.सू. 1.1.7 (168)
हशि च। पा.सू. 6.1.114 (113)
हान्तास्थाः। ऋ.तं.15 (67)
हुँ इति नासिक्यः। वा.प्रा. 8.23 (85, 85)
हुँ इत्यनुनासिकः। ऋ.तं. 1.2 (85)
हुमित्यनुनासिकः। ऋ.तं.प्र.प्रा. 2 (181)
हेतुमति च। पा.सू. 3.1.26 (59)
ह्यन्तराः कालाः। वा.प्रा. 3.5 (59)
ह्रस्वं लघ्वसंयोगे। च.अ. 1.5 (132)
ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्। तै.प्रा. 9.18 (79)
ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। पा.सू. 1.1.9 पर सि.कौ. (169)
ह्रस्वार्थकालं व्यञ्जनम्। तै.प्रा. 1.37 ((157))



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
गङ्गानाथझापरिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्,
प्रयागः - 211002



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
गङ्गानाथझापरिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्,
प्रयागः - 211002